रामकृष्ण मिशन

विवेकानन्द आश्रम, रायपुर

"मध्यप्रदेश शिक्षा विभाग के आदेश क्रमांक स। विधा। टा। ५६४
दिनांक ४ मार्च १९६४ द्वारा स्वीकृत"

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

अक्तूबर-नवम्बर-दिसम्बर १९६८

प्रधान सम्पादक एवं प्रकाशक
स्वामी आत्मानन्द

व्यवस्थापक • स्वामी प्रणवानन्द
सह-सम्पादक • सन्तोषकुमार झा

फोन नं. १०४६

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम
रायपुर (मध्यप्रदेश)

अनुक्रमणिका

कवर चित्र परिचय : स्वामी विवेकानन्द

(पैसाडेना, अमेरिका में, सन् १९००)

विवेक-ज्योति के आजीवन सदस्य

(तृतीय तालिका)

१२४. श्री महादेव रामेश्वर गुप्ता, भिवंडी, (बंवई)
१२५. ,, नारायणदास खंडेलवाल, रायपुर
१२६. ,, ईश्वरय्या नादम, नया शान्तिनगर, रायपुर
१२७. मेसर्स सिन्धिया स्टीम नेवीगेशन कं., बम्बई-१
१२८. श्री दयाराम राठोर, इंडियन मिल स्टोर्स, रायपुर
१२९. आगरेवाले की दुकान, हलवाई लेन, रायपुर
१३०. डा० वा० वा० पाटणकर, स्टेशन रोड, दुर्ग
१३१. श्री रामकुमार तिवारी, तहसीलदार, सीधी
१३२. डा० बलदेव प्रसाद मिश्र, राजनांदगांव
१३३. श्री पंकज तिवारी, पथर्रा, दुर्ग
१३४. एक भक्त
१३५. स० सिं० कपूरचंद जैन, अकलतरा
१३६. श्री छोटेलाल मन्नीलाल अग्रवाल, अकलतरा
१३७. ,, नेमीचंद जैन, अकलतरा
१३८. डा० ज्वालाप्रसाद मिश्र, अकलतरा
१३९. श्री मोहनलाल ताराचंद, अकलतरा
१४०. ,, प्रेमचंद विजयकुमार, अकलतरा
१४१. ,, बाबूलाल लाटा, अकलतरा
१४२. ,, राजेन्द्रकुमार सिह, अकलतरा
१४३. ,, रामखिलावन तिवारी, फरहदा (जांजगीर)
१४४. डा० मुकुन्द नारायण सोनी, अकलतरा

१४५. श्री रामगोपाल अग्रवाल, अकलतरा
१४६. श्री देवेन्द्रकुमार वढेरा, ओवरसियर, अकलतरा
१४७. प्राचार्य, अकलतरा एजुकेशन ट्रस्ट, अकलतरा
१४८. श्री शारदाप्रसाद वर्मा, प्राचार्य, जांजगीर
१४९. ,, फेकनलाल अग्रवाल, बलौदा (तह० जांजगीर)
१५०. ,, गिरधरदास डागा, सेन्ट्रल बैंक, रायपुर
१५१. मेसर्स सेठ आयल मिल्स, इंडस्ट्रियल स्टेट, रायपुर
१५२. श्री गंगादास कोठारी, सिविल लाइन्स, रायपुर
१५३. ठाकुर शिशुपाल सिंह, झाँपी (दुर्ग)
१५४. श्रीमती कृष्णाकुमारी बनछोर, जगदलपुर
१५५. ,, सूर्यकुमारी वर्मा, ग्रामसेविका, कुरुद
१५६. दाऊ वेनोराम हनुमन्ता, सगनी (रायपुर)
१५७. श्री विश्वास धर्माधिकारी, सिविल लाइन्स, बैतूल
१५८. ,, वासुदेवराव माकोड़े, समर्थ इलेक्ट्रिकल्स, बैतूल
१५९. प्राचार्य, नेहरू आयुर्वेदिक महाविद्यालय, बैतूल
१६०. डा० एम० एन० पान्से, कोठीबाजार, बैतूल
१६१. श्री गजानन केडिया, अकलतरा
१६२. ,, सुखसागरसिंह, सरपंच, अकलतरा
१६३. ,, प्रभाकरधर शर्मा, किरारी (तह०जांजगीर)
१६४. ,, प्रहलादराय गुप्ता, सदर बाजार, रायगढ़
१६५, ,, रामस्वरूप रतेरिया, सदर बाजार, रायगढ़
१६६. ,, रमेशकुमार दुबे, अकलतरा
१६७. श्री गणेशराम देवांगन, भानसोज
१६८. ,, जगदीश दास, दुर्ग
१६९. ,, मोतीलाल अग्रवाल, नैला
१७०. ,, चिरंजीलाल, अकलतरा

१७१. श्री द्वारकाप्रसाद खंडेलिया, शिवरीनारायण
१७२. डा. एन. सी. सरकार, अकलतरा
१७३. श्री वसोरेलाल पन्नालाल जैन, अकलतरा
१७४. डा. सत्यनारायण शर्मा, बलौदा (जांजगीर)
१७५. श्री उदितनारायण विश्वनाथ, शिवरीनारायण
१७६. „ केदारनाथ गणेशप्रसाद मुकीम, शिवरीनारायण
१७७. „ रामकुमार किरीतराम स्वर्णकार, खरौद
१७८. „ प्राचार्य, जनपद उ० मा० शाला, खरौद
१७९. „ शिवप्रसाद शर्मा, एडवोकेट, जांजगीर
१८०. „ महावीरप्रसाद शर्मा, नैला
१८१. „ रामनिवास अग्रवाल, नैला
१८२. „ कन्हैयालाल दीपानी, नैला
१८३. „ देवनारायण शुक्ल, खरौद
१८४. „ प्राचार्य, लक्ष्मणेश्वर महाविद्यालय, खरौद
१८५. „ लक्ष्मीचन्द यादव, चरौदा (जांजगीर)
१८६. „ गजानन गौरहा, मेऊ (जांजगीर)
१८७. „ हुलासराम तिवारी, कोसला (जांजगीर)
१८८. „ ईश्वरप्रसाद शर्मा, डुड़गा (जांजगीर)
१८९. „ जयप्रकाशधर शर्मा, किरारी (जांजगीर)
१९०. डा. गोवर्धन प्रसाद पाण्डे, खरौद
१९१. श्री प्रतापराय, मोटूमल चेलाराम, रायपुर
१९२. „ बद्रीनारायण गोरधनदास अग्रवाल, रायपुर
१९३. डा. नन्दलालप्रसाद चंद्राकर, खौली (रायपुर)
१९४. श्री ऋषिराम चंद्राकर, खौली (रायपुर)
१९५. „ पुरुषोत्तमलाल चंद्राकर, कुरुद (धमतरी)

-: ग्राहकों को विशेष सूचना :-

१-- 'विवेक-ज्योति' के इस चतुर्थ अंक के साथ आपका वार्षिक चन्दा समाप्त हो रहा है। अतः अगले वर्ष के लिए अपना चन्दा ४) (चार रुपये) मनीआर्डर द्वारा कृपया व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय, पो. विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (म.प्र.) के पते पर भेजें।

२-- यदि आपका चन्दा हमें १५ दिसम्बर, १९६८ तक नहीं प्राप्त होगा, तो 'विवेक-ज्योति' के सातवें वर्ष का प्रथम अंक आपको वी. पी. पी. से भेजा जायेगा। वी. पी. ५) की होगी। आपसे अनुरोध है कि वी. पी. कृपा करके छुड़ा लें, अन्यथा इस धार्मिक संस्था को व्यर्थ की हानि सहनी पड़ जायगी।

३— यदि आपको अब ग्राहक नहीं रहना है तो कृपया एक कार्ड डालकर शीघ्र हमें सूचित कर दें जिससे हम व्यर्थ वी०पी० न भेजें।

४— यदि आपको कोई अंक न मिले तो निवेदन है कि पहले अपने यहाँ के डाकघर में अच्छी तरह पूछताछ कर लें। यहाँ से 'विवेक-ज्योति' भेजने के पूर्व तीन बार चेकिंग करके भेजी जाती है। अतः जो गड़बड़ी होती है वह रास्ते में अथवा अन्तिम डाकघर में होती है। हमारे पास प्रतियां बची रहने पर हम गुमे अंक की प्रति पुनः भेजते ही हैं। प्रतियाँ शेष न रहने पर लाचारी है।

५-- पत्र लिखते या मनीआर्डर भेजते समय अपनी ग्राहक संख्या का उल्लेख अवश्य करें।

—व्यवस्थापक
'विवेक-ज्योति'

"न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते"

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण – विवेकानन्द – भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

वर्ष ६] अक्तूबर – नवम्बर – दिसम्बर [अंक ४

वार्षिक शुल्क ४) ❀ १९६८ ❀ एक प्रति का १)

अविद्या का फल !

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः
स्वयं धीराः पण्डितंमन्यमानाः ।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा
अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ॥

—वे रहते तो घोर अविद्या में हैं, पर अपने को स्वयं बड़े बुद्धिमान् और पण्डित मान लेते हैं। ऐसे मूढ़ लोग, अन्धे द्वारा ले जाये जानेवाले अन्धों के समान, वासनाओं की भूलभुलैया में भटकते रहते हैं।

— कठोपनिषद्, १।२।५

•

संशयात्मा विनश्यति

भगवान् राम के युग की बात है। तब लंका पर विभीषण का राज्य था। रावण राम के हाथों परास्त और कालकवलित हो चुका था। असुरों, वानरों और ऋक्षों में मैत्री हो चुकी थी। इसलिए असुर लंका पार कर भारत की सीमा में बेखटके विचरा करते थे।

एक दिन असुरों ने मानववंश के एक व्यक्ति को वन में भटकते देखा। वे वानर और ऋक्ष जातियों से तो परिचित थे, पर उन्होंने मानवजाति को नहीं देखा था। वानरों और ऋक्षों की अपेक्षा मानव का शरीर सुडौल और कोमल था। असुरों के मुँह में पानी भर आया। वे लपककर दौड़े और उस भटकते मानव को पकड़ लिया। कुछ लोगों की राय हुई कि तुरत उसे भून दिया जाय और उसके स्वादिष्ट मांस से सुपाच्य व्यंजन का आनन्द लिया जाय। वे उसे मारने के लिए उद्यत ही थे कि एक बड़े-बूढ़े असुर ने उनको रोका। कहा, "देखो, जहाँ तक मेरी स्मृति जाती है, यह मानव श्री राम के ही कुल का दीखता है। आज से अनेकों वर्ष पहले जब राम-रावण युद्ध हुआ था तब मैं युवक था और महाराज रावण की ओर से लड़ा था। मुझे श्री राम और उनके भाई की एक-दो बार झलक मिली थी। यह व्यक्ति भी मुझे उन्हीं के समान प्रतीत हो रहा है। अतः, हो न हो, उन्हीं का वंशज हो। कहीं हम लोग इसे मारकर खा लें और बाद

में महाराज विभीषण को इसका पता चला, तो अनर्थ हो जायगा। वे हमें दण्डित करेंगे। इसलिए मेरी राय में, हम इसे पकड़कर महाराज के ही पास ले चलें। वे जैसा उचित समझेंगे, करेंगे।"

असुरों ने उस वृद्ध की बात मान ली और उसे पकड़कर लंका ले गये। महाराज विभीषण के समक्ष बन्दी को उपस्थित किया गया। उसे देखते ही महाराज विभीषण सिंहासन से उठ खड़े हुए और कठोर स्वर में उन्होंने अनुचरों को तुरन्त बन्दी के बन्धन खोल देने का आदेश दिया, "जानते नहीं हो, य तो हमारे प्रभु राम के वंशज हैं?" सारी सभा खड़ी हो गयी और लोगों ने हाथ जोड़ लिये। विभीषण लपककर आगे बढ़े और बन्दी को गले से लगा लिया। प्रेमाश्रु से उनके दोनों कपोल भीग गये। उस मानव को देखकर उन्हें बारम्वार अपने प्रभु राम की याद आती। बड़ी देर तक उसे वे अपनी छाती से लगाये खड़े रहे। फिर असुरों के अनुचित व्यवहार के लिए उससे क्षमा माँगी और उसे राजमहल के ऐश्वर्यमण्डित अतिथिकक्ष में राजसम्मान के साथ रखने का आदेश दिया।

वह मानव तो भाग्य की यह उठा-पटक देख चकित था। उसे कुछ समझ में नहीं आया। वह तो विभीषण के आतिथ्य में सब कुछ मानो भूल सा गया था। न घर की याद थी, न स्वजन-सम्वन्धियों की। विभीषण उससे प्रतिदिन मिलते और श्री राम की, श्री हनुमान की चर्चा

कर प्रेम के आँसू बहाने लगते ।

एक दिन मानव को अपने घर की याद आयी और वह घर जाने के लिए विकल हो उठा । उसने महाराज विभीषण से विदा माँगी। पहले विभीषण ने उससे और रुक जाने का बड़ा आग्रह किया, पर जब उन्होंने देखा कि वह घर लौट जाने को आतुर है, तो बहुत से हीरे-माणिक्य, बहुमूल्य वस्तुएँ उन्होंने भेंटस्वरूप उसे दीं और विदा करने स्वयं सागरतट तक आये। वहाँ सजी-सजायी नौका तैयार थी । पर जाने विभीषण ने क्या सोचा । उन्होंने उस मानव से कहा, "ऐसा करें । मैं आपको एक मंत्र लिखकर देता हूँ । आप उसे रख लें और सागर को पैदल चलकर पार कर जायें। इससे आप शीघ्र उस तट पर पहुँच जायेंगे और रास्ते में भी उस मंत्र की शक्ति से आपको कोई कष्ट न पहुँचा पायेगा। आप निर्विघ्न अपने घर पहुँच जायेंगे । नाव से जाने में समुद्री जलचरों और तूफान का डर है। फिर उसमें समय भी अधिक लग जायेगा।" पहले तो मानव को इस पर विश्वास ही नहीं हुआ, पर विभीषण के दुबारा कहने पर वह राजी हो गया । विभीषण ने कागज जैसी चीज पर कुछ लिखा और मोड़कर उसे मानव को दे दिया । फिर, आतुरतापूर्वक उससे गले मिले और भीगी पलकों और रुँधे कण्ठ मे विदाई दी । अन्त में इतना ही कहा, "देखिये, मैंने जो लिखकर आपको दिया है, उसे बीच में खोलकर कदापि न पढ़ें, अन्यथा अनिष्ट हो सकता है ।

इतनी सावधानी अवश्य वरतें।" मानव ने हामी भरी और उत्सुकता एवं उत्तेजना से उसने समुद्र पर पैर रखे। यह क्या! उसके पैर पानी में नहीं डूबे और वह मजे से पानी पर चलने लगा! जब तक वह आँखों से ओझल न हो गया, विभीषण टकटकी लगाये अपने प्रियतम राम की स्मृति को जगानेवाले मानव को देखते रहे। जब कुछ दिखायी न पड़ा तब सभासदों के साथ भारी मन से महल में लौट आये।

मानव मजे से पानी पर चला जा रहा था। अचानक मन के कोने में इच्छा जगी—भला ऐसा कौन सा मंत्र है जिसके प्रभाव से मैं निर्भय, निश्शंक होकर समुद्र पर इस प्रकार चला जा रहा हूँ? उसने उस इच्छा को दवाने का भरपूर प्रयास किया, पर वह सफल न हो सका। इच्छा टक्करें खाकर और बलवती हो गयी। वह अपने को न रोक सका और जेब से विभीषण के दिये हुए मंत्र को निकालकर ज्योंही खोला, वह अचरज में पड़ गया। वहाँ कुछ नहीं था, केवल एक कोने में "राम" बस इतना सा शब्द लिखा था। उसके मन में संशय की लहर दौड़ गयी—क्या यह नाम ही ऐसा महान् शक्तिशाली मंत्र हो सकता है? संशय का आना था कि उसके पैर पानी में धँस गये और वह समुद्र के अतल गर्भ में समा गया!

●

उच्चतर जीवन के सोपान

स्वामी यतीश्वरानन्द

(श्रीमत् स्वामी यतीश्वरानन्दजी महाराज रामकृष्ण मठ और मिशन के उपाध्यक्ष थे। उन्होंने विसबेडन, जर्मनी में अध्यात्म-पिपासुओं के समक्ष साधना और उच्चतर जीवन के सम्बन्ध में बड़ी महत्वपूर्ण वार्ताएँ दी थीं। प्रस्तुत लेख उन्हीं में से एक है। यह अँगरेजी मासिक पत्रिका 'वेदान्त केसरी' के मई १९३९ अंक में प्रकाशित हुआ था।)

श्रीरामकृष्ण देव ने हमें आध्यात्मिक जीवन के विभिन्न सोपानों के बारे में बतलाया है। सोपान तो यथार्थतः वही है जिससे हमारा जीवन उन्नत होता हो। लच्छेदार भाषा में बोलना सोपान नहीं कहलाता। उच्च दार्शनिक विचार, सूक्ष्म कल्पनाएँ और सुन्दर उपदेश—ये सब सोपान के अन्तर्गत नहीं आते। आध्यात्मिक जीवन के सोपान का अर्थ है—व्यवहार में अध्यात्म-परिपूर्ण जीवन बिताना। उच्चतर जीवन के लिए पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन आवश्यक है, क्योंकि यदि हमारे कार्यों और वाणी के पीछे ब्रह्मचर्य का बल न हो, तो उनका कोई स्थायी प्रभाव न हो सकेगा।

रोग जितना प्रबल हो, औषध को भी उतना ही प्रबल होना चाहिए। 'काम और कांचन' का रोग आज सर्वत्र भयानक रूप धारण कर रहा है। अतः रोगियों को स्वस्थ बनाने के लिए बड़े कड़े इंजेक्शन की आव-

श्यकता है। तभी उनमें थोड़ा होश आ सकेगा। आज के युग में दवा की थोड़ी मात्रा से काम नहीं चलता। शुरू शुरू में उपचार की पूर्व-तैयारी के रूप में थोड़ी मात्रा दी जा सकती है, पर किसी न किसी दिन हम सभी को कड़ी से कड़ी मात्रा अवश्य लेनी चाहिए। और यदि हम रोग के कीटाणुओं को पूरी तरह नष्ट कर देना चाहते हैं तो यह कड़ी मात्रा हमें लम्बे समय तक लेनी पड़ेगी। इस बीच कई नाजुक वक्त आयेंगे। हर रोग के निदान-क्रम में ऐसे नाजुक वक्त आते हैं। पर यह नाजुक वक्त भी पूर्ण उपचार की दिशा में एक आवश्यक सोपान है। जाने हम अतीत में कितने जीवन जी चुके हैं और उन सभी जीवनों में हमने संसार के विषय-भोग भोगे हैं; हम माता, पिता, बन्धु और बच्चे रहे हैं; जन्म और मृत्यु के चक्कर में पड़ते रहे हैं। अतः इस बार, प्रयोग के लिए ही सही, हम यह क्यों न देख लें कि त्याग का सच्चा जीवन कैसा होता है और इस तरह दोनों प्रकार के जीवनों को तुलना करके देख लें! महज उत्सुकता के लिए ही सही, हम यह क्यों न देख लें कि पूर्ण पवित्रता का उच्चतर जीवन कैसा होता है?

भक्त रामप्रसाद गाते हैं—"ऐ मन! तू खेती करना नहीं जानता। ऐसी मानव-जमीन पड़ती ही पड़ी रह गयी। यदि तूने इसे जोता होता तो इसमें सोना फलता, सोना!"

मन के साथ उग्रता का बर्ताव कभी न करो। उसे

पुचकार-पुचकारकर बात को समझाने की कोशिश करो। धीरे धीरे, शान्तिपूर्वक, युक्तिपूर्ण शब्दों से उसे राजी करने का प्रयत्न करो। यदि ऐसा कर सको तो आध्यात्मिक विकास का क्रम सुगम हो जाता है। विभिन्न साधनाओं के द्वारा अपने निश्चय की शक्ति को दिनोंदिन बढ़ाते चलो। मन में ऐसा विचार दृढ़ करो कि यदि हमें ऊँची चीज न मिल सके तो हम बदले में नीची चीज क्यों लें! यदि हमें खाद्यान्न न मिला तो क्या हम गोबर खा लेते हैं? नहीं, बल्कि भूखा रहना ही पसन्द करते हैं। अतः उच्चतर आदर्श की प्राप्ति के लिए कमर कस लो। स्वामी विवेकानन्द ने साधनाकाल में एक समय अपने गुरुभाइयों से कहा था, "यदि मुझे एक चीज पाने की इच्छा है और वह चीज मुझे न मिले तो क्या मुझे दूसरी चीज के पीछे दौड़ना चाहिए?"

(२)

यथार्थ मौन मन का मौन है। इसके लिए हमें मन की वृत्तियों को शान्त करना पड़ता है और प्रतिकूल विचारों से उसे मुक्त करना पड़ता है। पहले मन में, दिव्यता का, पवित्रता का, ईश्वरत्व का विचार उठाओ और तदनन्तर जो विचार इस दिव्यता के विचार के साथ सम्बन्धित न किये जा सकें उन्हें दूर करने की कोशिश करो। इसके लिए बाहरी निर्जनता पहले-पहल बहुत अधिक सहायक नहीं होती। कहा भी है– "केवल बाह्य निर्जनता का आश्रय लेने मात्र से संसार विस्मृत

नहीं हो जाता । सच्ची निर्जनता तो वह है जिसमें साधक स्वयं को ब्रह्म के ध्यान में विलीन कर देता है ।" वन या मठ में जाने मात्र से हम निर्जनता में प्रवेश नहीं पा लेते । हमें जानना चाहिए कि हम अपने मन के संसार को कैसे नष्ट कर सकते हैं । जब ध्यान में बैठो तब समस्त सांसारिक विचार मन से पोंछ डालो और केवल प्रभु का ही चिन्तन करो ।

जो कुछ तुम्हारे पास है उसका स्वामित्व प्रभु को सौंप दो और प्रभु का मुनीम बनकर कार्य की देखभाल करो । हमारे पास चाहे जितनी भी सम्पत्ति हो, उसके अधिकार की भावना हममें न हो ।

आध्यात्मिक जीवन में आत्मविश्वास की आवश्यकता अनिवार्य है । जो यथार्थ में आध्यात्मिक होता है उसके लिए आत्मविश्वास, ईश्वर में विश्वास से भिन्न नहीं होता, क्योंकि वह अनुभव कर चुका होता है कि उसका सार-सर्वस्व तो वही प्रभु है । "आत्मना विन्दते वीर्यं विद्यया विन्दतेऽमृतम्" – आत्मविश्वास से वह सामर्थ्य का अधिकारी होता है और विद्या से अमृत का ।

सभी महान् आचार्यों ने ब्रह्मचर्य के विभिन्न पहलुओं पर बारम्बार जोर दिया है । आत्मा नित्यशुद्ध और अलिंग है । मिथ्या व्यक्तित्व से चिपकने के कारण ही सारे दुःख-कष्ट खड़े होते हैं । आध्यात्मिक जीवन का अर्थ है–इस मिथ्या व्यक्तित्व को उड़ा देना, अहं की भावना को चूर-चूर कर देना, अपनी सारी क्षुद्रता और

सीमितता को लाँघ जाना। आत्मा की भावना हमारे इस मिथ्या व्यक्तित्व को और दूसरों के साथ हमारे सारे मिथ्या बन्धनों को जड़ से हिला देती है।

ध्यान प्रारम्भ करने से पूर्व गहराई से आत्मा की यह भावना करो। सोचो कि तुम देह, मन, इच्छा और वासना आदि से मुक्त केवल आत्मा हो। यदि पाप नामक कुछ हो भी, तो वह है संसार से चिपके रहना और मिथ्या व्यक्तित्व को पकड़े रहना।

जिससे हमारा चित्त शुद्ध हो, हृदय पवित्र हो और हम लक्ष्य को प्राप्त कर सकें, वही नैतिक और आध्यात्मिक है। इससे भिन्न जो भी है, वह नैतिक नहीं है। पवित्रता ही प्रभु की कृपा की एकमात्र शर्त है।

आध्यात्मिक जीवन की नींव है त्याग—शरीर और मन से त्याग। यह त्याग सभी महापुरुषों के जीवन की धुरी रहा है। जब साधक के जीवन में धन और लोभ का त्याग, सब प्रकार के मैथुन का त्याग तथा अहंभाव का त्याग, ये तीन त्याग प्रतिष्ठित हो जाते हैं, तब आध्यात्मिक जीवन सहज और बाधारहित हो जाता है और तब ईश्वर-दर्शन एक सहज घटना के रूप से साधक के जीवन में उपस्थित हो जाता है।

आज का हमारा यह युग अहं-केन्द्रित और इन्द्रिय-परायण है। हम छाया-चित्रों के पीछे दौड़ते रहते हैं। एक भयानक थोथेपन ने हमें जकड़ रखा है। हमारे लिए यह त्रिविध त्याग ही जीवन का आदर्श है। 'काम और

कांचन' के भँवर से छूटना ही मुक्ति प्राप्त करना है। स्वामी विवेकानन्द अपने 'संन्यासी का गीत' में गाते हैं—

सत्य न आता पास, जहाँ यश-लोभ-काम का वास,
पूर्ण नहीं वह, स्त्री में जिसको होती पत्नी भास,
अथवा वह जो किंचित् भी संचित रखता निज पास!
वह भी पार नहीं कर पाता है माया का द्वार
क्रोधग्रस्त जो, अतः छोड़कर निखिल वासना-भार
गाओ धीर-वीर संन्यासी, गूँजे मन्त्रोच्चार,
ओम् तत्सत् ओम् !

सभी महान् पुरुषों ने इस शाश्वत सत्य की घोषणा की है। उपर्युक्त त्रिविध त्याग इस सत्य के अन्तर्गत आते हैं। इसके बिना आध्यात्मिक जीवन का विकास नहीं हो पाता।

हर देश में हमें बस ऐसे ही कुछ व्यक्ति चाहिये जो उच्चतम आदर्श के लिए अपना जीवन समर्पित कर दें; तन, मन, और वचन की पवित्रता के आदर्श के लिए अपना सर्वस्व न्यौछावर कर दें तथा उस आदर्श की प्राप्ति के लिए हर कठिनाई का सामना करने को प्रस्तुत हों। हम वहीं तक दूसरों को प्रभावित कर सकते हैं जहाँ तक स्वयं हमारा जीवन उच्चतर आदर्श से प्रभावित हुआ है। यह ध्यान रखें कि हम जनसमूह में परिवर्तन नहीं ला सकते, हम समूचे जनसमुदाय को आध्यात्मिक नहीं बना सकते। किन्तु हम उन कतिपय व्यक्तियों के जीवन को अवश्य बदल सकते हैं जो निष्ठावान् हैं

तथा जिनका समय आ गया है।

(३)

सड़कों पर से चलनेवाले लोगों के चेहरे देखो। कैसी घोर सांसारिकता और विकृति दिखाई देती है! महिलाओं के पुते चेहरे, साफ दाढ़ी बनाये पुरुष, सजीली पोशाकों में नर और नारी, पर उनके चेहरों पर केवल लोभ और यौन-विकार! यदि तुम थोड़ा और अन्तर्मुखी हो जाओ, तुम्हारी संवेदनशीलता तनिक प्रबल हो जाय, तो तुम भी देखोगे कि यह सब कितना घृणित है। सड़कों पर ऐसे चेहरे कभी-कभार ही दिखाई पड़ते हैं जिन पर 'पशुता' और 'कामुकता' की स्पष्ट छाप न हो। यह सब ह्रास के लक्षण हैं। इसके कारण जिज्ञासु को पहले पहल पवित्र जीवन का यापन बड़ा कठिन मालूम होता है। जब तक मनुष्य का यह पशुभाव जाता नहीं और जब तक वह अपनी इस पशुता में ही संतुष्ट है, तब तक ह्रास और पतन को किसी प्रकार नहीं रोका जा सकता। ये पशु तुम्हारे चतुर्दिक वातावरण को अपने कलुषित विचारों से गँदला कर देते हैं। इनसे सावधान रहो।

यदि तुम इस पतनोन्मुख समाज को ऊपर उठाने में अपने को असमर्थ पाते हो, तो स्वयं को ही ऊपर उठाओ। सोचो कि ये मानव-पशु कितने दु.खी हैं। वे स्वयं तो दुखी हैं ही, वे दूसरों को भी दुखी करते हैं। अपने गन्दे विचार-कम्पनों के द्वारा वे दूसरों को दूषित

और विषाक्त कर देते हैं। उनके विकृत विचारों को उनके चेहरे पर पढ़ा जा सकता है। इसीलिए सड़कों पर से चलना इतना अरुचिकर मालूम पड़ता है। तुम देखते ही होगे कि इन संसारी लोगों की बातचीत गन्दी राज-नीति सम्बन्धी होती है, वे पैसे कमाने की ही बातें करते हैं और दूषित यौन-चर्चा में लगे रहते हैं। अपने थियेटरों, सिनेमाघरों, उपन्यासों और गीतों में आखिर तुम क्या देखते हो ?—यौन, राजनीति और पैसे कमाना !

हम अभी भी पर्याप्त संवेदनशील नहीं हैं। हम अपनी क्रियाओं के पीछे निहित उद्देश्य को नहीं पकड़ पाते। कभी कभी हमें धोखा देने के लिए, अपने कर्मों और विचारों के लिए मन एक अच्छा सा बहाना ढूँढ़ लेता है। असंगत व्यक्ति का मन सदैव उसे इसी प्रकार धोखा देता रहता है। अपने मन से कह दो, "मन, यदि तुम कहते हो कि साधनाओं का दवाव तुम पर अधिक हो रहा है, तो मैं देखना ही चाहूँगा कि तुम उस दबाव के नीचे टूट जाते हो !" उच्चतर जीवन की साधना में यदि मृत्यु भी सामने आ जाय, तो उसके वरण कर लेने से न हिचकें। मन तो लम्बे अरसे तक विद्रोह और शिकायत करता रहेगा। कहेगा—"देखो, आज तुम बहुत कम सो पाये हो। यह तुम्हारे स्नायुओं के लिए खराब है। सावधानी रखना कि कहीं कोई स्नायविक दुर्घटना न हो जाय। दो-एक दिन के लिए अभ्यास जरा स्थगित कर दो।" ऐसे समय मन को कसकर ठोकरें लगाओ,

उस पर कोड़े चलाओ। ऐसे खराब मन के साथ इसी प्रकार कठोर बनो। जैसे घोड़े के बैठ जाने पर सवार उसे कोड़े से मारता है, उसी प्रकार विद्रोही मन को तुम भी अच्छा सबक पढ़ाओ।

अभ्यास का एक नियत क्रम होना चाहिए। भगवान् के नाम का जितनी बार हो सके जप करो। जप की एक न्यूनतम संख्या निर्धारित कर लो। फिर चाहे कैसी भी परिस्थिति क्यों न आये, जप की यह संख्या अवश्य पूरी करनी चाहिए। सुबह जब तक अपने अभ्यास का न्यूनतम क्रम पूरा न कर लो, तब तक भोजन का स्पर्श न करो। इस नियत क्रम में किसी प्रकार की बाधा न आने दो।

श्रीकृष्ण कहते हैं, "मामनुस्मर, युद्धच च—मेरा स्मरण करो और युद्ध करो। मेरी कृपा से तुम शत्रु पर विजय पाओगे और शान्ति प्राप्त करोगे।" जैसे जैसे हम आगे बढ़ते हैं, यह युद्ध सूक्ष्मतर होता जाता है और अधिकाधिक कठिन होता जाता है। हमें समाप्ति तक युद्ध में लगे रहना है। सूक्ष्मतर जगत् के संघर्ष अधिक सूक्ष्म और बृहत्तर होते हैं। यदि स्वप्न में भी एक बुरा विचार आये, तो उसके लिए भी कोई बहानेबाजी न हो।

(४)

जब प्रारम्भ में हमें बीज दिया जाता है तो हम उसकी महान् सम्भावनाओं से अपरिचित होते हैं। किन्तु ज्यों ज्यों समय आगे बढ़ता है, हम पाते हैं कि उस बीज

में एक विशाल वृक्ष निहित था। पर यह आवश्यक है कि बीज को पूरा जल और खाद मिले। इसी प्रकार, भगवान् के नाम में भी महान् सम्भावनाएँ छिपी हैं। जो तुम्हारा इष्टदेवता हो उसका एक चित्र अपने पास रखो। जब तुम सोने लगो तो इस चित्र को देखकर सोओ और जब जागो तो सबसे पहले इसी चित्र को देखो। दोनों समय अपने मन को इष्ट के विचारों से भर लो और अन्य किसी व्यक्ति या वस्तु की बात मन में न आने दो। साधक के लिए प्रारम्भ में ऐसा करना आवश्यक है। रामप्रसाद गाते हैं—"ऐ मन, तुम पौधे के चतुर्दिक कालीनाम की बाड़ क्यों नहीं लगा देते ?" पहले तो भगवान् का नाम हमें मात्र एक शब्द मालूम होता है, परन्तु धीरे धीरे हमें पता चलता है कि उसमें सूक्ष्म शक्ति है और वह हमें भगवान् तक ले जाता है। हम पहले पहल उसकी अनन्त सम्भावना को नहीं पहचान पाते। जब हम कुछ समय तक नियमित रूप से अभ्यास करते हैं तो हमारा मन कुछ नियंत्रित और अनुशासित होता है; किन्तु तब भी बीच बीच में वह फेरे गये घोड़े के समान दुलत्ती मारने की कोशिश करता है।

आसन के सम्बन्ध में यह ज्ञातव्य है कि तुम्हें दो आसनों का अभ्यास होना चाहिए जिससे यदि एक में बैठे रहने से असुविधा हो तो दूसरा बदल लो। साधना की मूल बात है ध्यान। बाकी अन्य तो मन को अनुकूल बनाने की तैयारी मात्र है। जब मन अनुकूल होता है तो ध्यान

बड़ा सुगम हो जाता है। भारत में आजकल विभिन्न आसनों के अभ्यास का पुनर्जागरण हो रहा है, पर वह सब आध्यात्मिक जीवन के लिए अनिवार्य नहीं है। आसन का लाभ पर्याप्त अभ्यास के फलस्वरूप ही समझ में आता है।

साधक के लिए दिन में पाँच-छः घंटे की नींद पर्याप्त है। आठ घंटे की नींद काफी अधिक हो जाती है। कहा जाय तो नींद उतनी आवश्यक नहीं है जितना कि सारे दिन प्रयत्नपूर्वक अपने स्नायविक और मानसिक तनावों को कम करना आवश्यक है। ध्यान करने में समर्थ होने के लिए हमें पहले शिथिलीकरण का अभ्यास करना चाहिए–हमें जानना चाहिए कि स्नायविक तनाव को कैसे कम करें; क्योंकि स्नायविक उत्तेजना से ग्रस्त मनुष्य ध्यान कर ही नहीं सकता। तत्पश्चात् अपने विचारों और भावनाओं पर हमें नियंत्रण प्राप्त करना चाहिए, भले ही वे शुभ और पवित्र हों अथवा उन्नत हों। आत्मसमर्पण के भाव का विकास करके हमें मन को क्रियाहीन और उस अनन्त प्रभु के साथ युक्त करने का प्रयास करना चाहिए। इससे हमारी दुश्चिन्ताएँ कम होंगी और हमारा मानसिक तथा स्नायविक तनाव हलका होगा। इससे एक लाभ होगा। हम भले ही यथार्थ रूप से ध्यान करने में समर्थ न भी हों, तथापि इस प्रकार के अभ्यास से हमें एक प्रकार की शान्ति मिलेगी। ध्यान प्रारम्भ करने से पहले हमें अपने स्नायुओं

को यथासम्भव शिथिल करने का प्रयास करना चाहिए।

तुम्हारा प्रत्येक कार्य स्पष्ट और निर्दिष्ट हो। तुम्हें यह विदित होना चाहिए कि कैसे सोओ, किस प्रकार निद्रा में जाओ, कैसे जागो, अपनी जाग्रत् अवस्था का उपयोग कैसे करो, सोने के ठीक पहले किस प्रकार के विचार तुम्हारे मन में हों और जागते समय वे विचार कैसे हों ? साधक के जीवन का हर पहलू सुनियत हो और उसका हर कार्य और विचार सोद्देश्य हो। निद्रा में जाने से पहले अपने मन को दिव्य और पवित्र विचारों से भर लो। किसी महान् आध्यात्मिक व्यक्तित्व का चिन्तन भी सहज और असंग रूप से इस समय किया जा सकता है। इससे मन धीरे धीरे क्रियाहीन होकर शान्त होने लगेगा।

विचारों की शुद्धता पर साधक की उन्नति निर्भर करती है। जब तक यह पवित्रता हासिल नहीं होती, हमारे तनाव कम नहीं हो पाते। हमारी नींद तभी विघ्न-बाधाओं से रहित होती है जब हम जान लेते हैं कि जाग्रत् अवस्था में हमारे विचार और भावनाएँ यथार्थ रूप से कैसी हों। उच्चतर जीवन यापन करनेवाले व्यक्तियों को पाशविक जीवन की ओर ध्यान नहीं देना चाहिए। यदि कोई सबसे जघन्य बुतपरस्ती है या हो सकती है तो वह है देह-पूजा और यौन-पूजा।

अपने हृदय को प्रयत्नपूर्वक एक श्मशान-भूमि बना लेना है और वहाँ अपनी समस्त आसक्ति और अपवित्रता

को विदग्ध कर डालना है, अपने व्यक्तित्व के भाव को भस्मीभूत कर देना है। यह संघर्ष शाश्वत है और यही श्रीप्रभु की यथार्थ पूजा है। इससे हमें कभी हतोत्साहित नहीं होना चाहिए। मुश्किल यह है कि हम केवल ऐसे ईश्वर को भजते हैं जो हमें सुख और इन्द्रिय-संतुष्टि प्रदान करता है, हमें आशीर्वाद देता है। पर पूछूँ, क्या दुःख भी उन्हीं की देन नहीं है? सर्वत्र वही ईश्वर पूजा जाता है जो वरदानों से भरा है और जो अपने भक्तों को वरदान बाँटता है। ज्योंही हमारे मन में ईश्वर का संहारकारी रूप आता है कि हम डर जाते हैं। औढर-दानी के रूप में, आशुतोष के रूप में शिव सभी को रुचिकर हैं; पर प्रलय का ताण्डव नृत्य करनेवाले शिव को हम आँखों से ओझल करना चाहते हैं! भला क्यों? हमारी इस मनोवृत्ति में कोई तुक और छन्द नहीं है। ईश्वर तभी तक ईश्वर है जब तक सृजन है और पालन है, पर ज्योंही संहार आया कि बस, ईश्वर विदा! वास्तव में ईश्वर तो तभी ईश्वर है जब वह सभी पहलुओं का ईशन करनेवाला है, जब वह सृजन, पालन और संहार तीनों का ईशन करता है, साथ ही इन तीनों के ऊपर है। आज ऐसे 'अच्छे ईश्वर' के विरुद्ध प्रतिक्रिया हो रही है, और यह प्रतिक्रिया स्वागत के योग्य है। यदि तुम आधुनिक मस्तिष्क को एक दयालु और अच्छे ईश्वर की धारणा दोगे तो वह उसे फेंक देगा। पर यदि उसे ईश्वर की उपर्युक्त सर्वांग-सम्पूर्ण धारणा दो तो अधिकांशतः ऐसा

ईश्वर स्वीकार कर लिया जायेगा।

जब हम ईश्वर को स्रष्टा, पालक और संहारक के रूप में देखते हैं तो वही जगन्माता है। इस जगन्माता का ही निरपेक्ष रूप, वह रूप जो उपर्युक्त तीनों रूपों से परे है, शिव कहलाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि ईश्वर का सापेक्ष रूप मानो जगदम्बा है और उसका निरपेक्ष रूप, शिव। जगन्माता शिव पर खड़ी होकर सृष्टि, पालन और संहार का उन्मत्त नृत्य कर रही है। शिव उसके पैरों के नीचे शव के समान निश्चल और निरपेक्ष भाव से पड़े हैं। यह सब सत्य के कितने अद्भुत और विलक्षण प्रतीक हैं!

मृत्यु से क्यों भयभीत होते हो? वह तो महिमामय हो सकती है! जगदम्बा की श्रेष्ठ लीला कहाँ दिखायी देती है? श्मशान भूमि में। श्मशान भी उतना ही सत्य है जितना कि सवर्धनगृह। जीवन और मृत्यु दोनों में साधक को चाहिए कि वह दोनों से ऊपर उठकर केवल जगन्माता से चिपटा रहे।

यह जीवन का सत्य है कि जो सुखप्रद चीजों से चिपके रहना चाहता है, उसे दुःख मिलता है। जीवन में हमें जिन मानसिक यातनाओं में से होकर गुजरना पड़ता है उनकी तुलना में शारीरिक कष्ट नहीं-से मालूम पड़ते हैं। अतः हम यह अच्छी तरह जान लें कि सत्य सुख और दुःख दोनों से परे है और उसकी प्राप्ति इन दोनों से ऊपर उठने पर ही हो पाती है।

भक्त रामप्रसाद गाते हैं– "ऐ मेरे चंचल मन ! माँ का नाम तू अहर्निश लेता रह। चाहे विपत्ति के बादल आकर तुझे ढक लें, उससे क्या होना जाना है ?"

मानव-मन में जो भयानक झंझावात चलते हैं, उनकी तुलना में शारीरिक यातनाएँ नगण्य हैं। और जब तक हम जीवन के सुखदायी पहलू से चिपके रहते हैं तथा उसके भयंकर और दुखदायी पहलू को अमान्य कर देना चाहते हैं, तब तक ये झंझावात बन्द नहीं होते। यदि हम सचमुच ईश्वर को पाना चाहते हैं और शान्ति एवं आनन्द के अधिकारी बनना चाहते हैं तो ईश्वर के कमनीय और कराल दोनों रूपों से ऊपर उठने के लिए हमें पूरी तरह तैयार होना चाहिए।

●

सौजन्यधन्यजनुषः पुरुषाः परेषां
दोषान् विहाय गुणमेव गवेषयन्ति।
त्यक्त्वा भुजंगमविषं हि पटीरगर्भात्
सौगन्ध्यमेव पवनाः परिवाहयन्ति ॥

– वे भलेमानुष लोग धन्य हैं जो दूसरे के दोषों को छोड़कर गुण को ही खोजते रहते हैं। मलयाचल के चन्दन वृक्ष पर लिपटे हुए सर्पों के विष को न ग्रहण कर वायु चन्दन की सुगन्धि का ही वहन करती है।

स्वामी तुरीयानन्द

डा० नरेन्द्र देव वर्मा

भारतीय धर्म-साधना में ईश्वर की प्राप्ति के दो प्रमुख पथ ज्ञान और भक्ति के नाम से जाने जाते हैं। शताब्दियों से इन दोनों पथों को परस्पर पृथक् माना गया है और इनकी आपेक्षिक उच्चता का बखान किया गया है। किन्तु आधुनिक काल में हम समन्वयाचार्य श्रीरामकृष्ण देव के जीवन में इन पथों को अपनी पृथकता खोकर एक साथ मिलते हुए देखते हैं। भगवान् श्रीरामकृष्ण जहाँ महान् ज्ञानी थे वहाँ वे जगन्माता के उत्कट भक्त भी थे। धर्मशास्त्र के इतिहास में पहली बार उनके व्यक्तित्व में नारदीय भक्ति और अद्वैत वेदान्त समन्वित होकर प्रकट होते हैं। उनके इसी सामासिक स्वरूप का प्रतिबिम्ब उनके शिष्य स्वामी तुरीयानन्द जी के जीवन में दिखाई पड़ता है। स्वामी तुरीयानन्द अद्वैत वेदान्त के गहन अध्येता थे और इसके साथ ही उनमें एक महान् भक्त का हृदय भी धड़कता था। ज्ञान-मार्ग पर चलकर जहाँ उन्होंने 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' की अनुभूति की थी वहाँ भक्ति के अथाह पारावार में डूबकर यह भी देखा था कि जगन्माता ही एकमात्र सत्य हैं। उनके जीवन की इन द्विविध प्रवृत्तियों की पुष्टि एकाधिक घटनाओं से की जा सकती है।

जिस समय वे परिव्राजक के रूप में भारत की पैदल यात्रा कर रहे थे तब एक दिन उनके मन में एक विचित्र विचार उठा। उन्होंने सोचा कि जब संसार का प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी काम में लगा हुआ है तब वे निठल्ले इधर-उधर घूम रहे हैं। वे इस विचार से बहुत परेशान हुए और क्षुब्ध होकर एक वृक्ष के नीचे लेट गये। धीरे-धीरे उन्हें नींद आ गई और एक अभूतपूर्व स्वप्न उन्हें दिखा। वह गहनतर अनुभूति थी। उन्होंने देखा कि उनका शरीर धरती में पड़ा है और धीरे-धीरे वह विशाल से विशालतर होता जा रहा है। अन्ततः वह इतना विशाल हो गया कि उसने सारे ब्रह्माण्ड को व्याप्त कर लिया। तव उन्होंने अपने तईं सोचा, "देखो, तुम कितने महान् हो! तुमने सारे संसार को व्याप्त कर लिया है। तुम ऐसा क्यों सोचते हो कि तुम्हारा जीवन निरुपयोगी है। सत्य का एक क्षुद्र कण माया के सारे संसार को व्याप्त कर सकता है। उठो, शक्तिशाली बनो और सत्य का साक्षात्कार करो। यही महत्तम जीवन है।" यह गहनगर्भी अनुभूति थी। यह सर्वव्यापी आत्मतत्त्व का साक्षात्कार था। स्वामी तुरीयानन्द तुरन्त उठ बैठे और आनन्द से उछलकर खड़े हो गये।

स्वामी तुरीयानन्द ने दक्षिणेश्वर के सन्त से भक्ति की दीक्षा ली थी। उनका जीवन भगवत्-समर्पण का जीवन था। केलिफोर्निया के शान्ति आश्रम में उन्होंने भक्ति के उत्तुंग शिखर का आरोहण किया था। वहाँ

उन्हें यह अनुभव हुआ था कि जगन्माता ने उनके अहंकार को समूल नष्ट कर दिया है। इस विषय में उन्होंने अपने हृदय की ओर इंगित करते हुए कहा था, "यहाँ माता सदैव जागती रहती हैं। वे कभी नहीं सोतीं. . . । एक बार मैंने अनुभव किया था कि मेरा प्रत्येक कदम माता की ही शक्ति से उठ रहा है और मैं कुछ नहीं हूँ। मैंने स्पष्ट रूप से इसका अनुभव किया था और यह अनुभूति कई दिनों तक बनी रही।"

ज्ञान और भक्ति को अपने जीवन में उतारने वाले इस महापुरुष का जन्म उत्तरी कलकत्ता के एक ब्राह्मण परिवार में ३ जनवरी सन् १८६३ में हुआ था। उनका पूर्व नाम हरिनाथ चट्टोपाध्याय था। हरिनाथ के माता-पिता का देहावसान बहुत पहले हो गया था इसलिए उनका पालन-पोषण उनके बड़े भाई ने किया। हरिनाथ प्रारम्भ से ही पूजा-पाठ में अधिक रुचि लेते थे। फलत: वे एंट्रेंस से आगे नहीं पढ़ सके। उनका बाल्यकाल एक निष्ठावान् ब्राह्मण के समान बीता। वे एक कट्टर ब्राह्मण की तरह त्रिसंध्या स्नान करते और सूर्योदय के पहले ही समूची गीता का पारायण कर डालते। वे शंकराचार्य के भक्त थे तथा उनके विचारों के अनुरूप अपने जीवन को ढालना चाहते थे।

हरिनाथ किशोरावस्था में सदैव उपनिषदों तथा अन्य अद्वैत-वेदान्त के ग्रंथों का पठन-मनन करते रहते थे। एक बार वे गंगा में नहाने गये। उन्होंने जल में डुबकी लगाई

ही थी कि उन्होंने देखा, थोड़ी ही दूर में एक मगर तैर रहा है। उनके मन में तत्काल जल से निकलकर प्राण-रक्षा करने का विचार उठा। किन्तु दूसरे ही क्षण वे सोचने लगे, "यदि मैं ब्रह्म हूँ तो मुझे भयभीत क्यों होना चाहिये? मैं देह नहीं हूँ। और यदि मैं आत्मा हूँ तो मुझे मगर तो क्या, संसार की किसी भी वस्तु से क्यों भयभीत होना चाहिये?" यह सोचकर वे जल में ही खड़े रहे। किनारे खड़े लोगों ने सोचा कि यह लड़का जान गवांने के लिए मूर्खतापूर्ण कार्य कर रहा है। पर हरिनाथ अपने अद्वैत-वेदान्त के विश्वास की जाँच कर रहे थे। उन्होंने जीवन्मुक्ति को अपने जीवन का उद्देश्य बनाया था और बाद में जब उन्होंने शास्त्रों में पढ़ा कि जीवन का उद्देश्य जीवन्मुक्त बनना ही है तो वे हर्ष से पुलकित हो उठे।

सच्चे साधक को गुरु की खोज नहीं करनी पड़ती अपितु भगवत्कृपा से उसे अनायास गुरु की प्राप्ति हो जाती है। हरिनाथ को भी अकस्मात् श्रीरामकृष्ण के दर्शन हुए। उस समय हरिनाथ की अवस्था तेरह-चौदह वर्ष की रही होगी। उन्होंने सुना कि अमुक दिन पड़ोस में एक परमहंस आ रहे हैं। उत्सुकतावश वे भी उन्हें देखने पहुँचे। बाद में इस घटना का वर्णन करते हुए उन्होंने बताया था, "पड़ोस के एक घर के सामने एक घोड़ागाड़ी रुकी। उसमें से एक दुबला-पतला व्यक्ति दूसरे व्यक्ति का सहारा लेकर नीचे उतरा। वह व्यक्ति

संसार से बेखबर था। जब मैंने उसे निकट से देखा तब मुझे उसके मुख पर अलौकिक आभा दिखाई पड़ी। एकाएक मेरे मन में यह विचार कौंध गया, 'मैंने शास्त्रों में शुकदेव के बारे में पढ़ा है। क्या ये भी शुकदेव के समान हैं?' वे अपने सेवक के कंधे पर हाथ रखकर घर के भीतर गये। बहिर्मुखी होने पर उन्होंने दीवाल में टँगे काली के चित्र को प्रणाम किया और सुमधुर स्वर से एक गीत गाया जिसका भावार्थ था कि काली और कृष्ण एक ही हैं।" ये और कोई नहीं, परमहंस रामकृष्ण ही थे।

हरिनाथ की श्रीरामकृष्णदेव से दूसरी भेंट इस घटना के दो-तीन साल बाद दक्षिणेश्वर में हुई। इस बार वे देवमानव श्रीरामकृष्ण के अलौकिक प्रेम से अभिभूत होकर लौटे। उन्होंने हरिनाथ को छुट्टियों के दिनों को छोड़कर अन्य दिनों दक्षिणेश्वर आने के लिये कहा था। इससे हरिनाथ को उनके अधिक निकट आने का अवसर मिला। श्रीरामकृष्ण यह जानकर बड़े प्रसन्न हुए कि हरिनाथ की रुचि अद्वैत वेदान्त की ओर है और उन्होंने उसे तदनुरूप गढ़ना आरम्भ कर दिया। एक बार हरिनाथ ने उनसे कहा कि दक्षिणेश्वर में उन्हें बड़ी शान्ति मिलती है पर कलकत्ते में वे दुःखी हो जाते हैं। इसपर ठाकुर बोले, "तुम तो भगवान् कृष्ण के सहचर हो। तुम कहीं भी दुखी नहीं रह सकते।" हरिनाथ ने उत्तर दिया, "लेकिन मैं यह नहीं जानता कि मैं उनका

सहचर हूँ।" तब श्रीरामकृष्ण ने उन्हें समझाते हुए कहा, "सत्य किसी के जानने न जानने पर आधारित नहीं होता। तुम जानो या न जानो, पर तुम प्रभु के ही जन हो।" उनके इस कथन से हरिनाथ को बड़ी सान्त्वना मिली।

हरिनाथ प्रारम्भ से ही स्त्रियों से दूर रहा करते थे। वे छोटी बालिकाओं को भी अपने समीप नहीं आने देते थे। इस सम्बन्ध में चर्चा चलने पर जब उन्होंने ठाकुर को बताया कि वे तो स्त्रियों की उपस्थिति नहीं सह सकते तब ठाकुर ने उन्हें ताड़ना देते हुए कहा, "तुम तो मूर्ख जैसी बातें करते हो। तुम स्त्रियों को किस दृष्टि से देखते हो ? वे तो जगन्माता की ही विविध अभि-व्यक्तियाँ हैं। जिस प्रकार तुम अपनी माता को प्रणाम करते हो उसीप्रकार तुम्हें उन्हें भी प्रणाम करना और सम्मान देना चाहिये। उनके प्रभाव से बचने का यही एकमात्र रास्ता है। तुम उनसे जितनी ही घृणा करोगे उतना ही उनकी माया में उलझोगे।" ठाकुर के इन ज्वलन्त शब्दों ने हरिनाथ के हृदय में सीधे प्रहार किया और उनका नारी विषयक दृष्टिकोण पूरी तरह से बदल गया।

एक अन्य अवसर पर हरिनाथ ने ठाकुर से पूछा कि काम-भाव से पूर्णतया रहित कैसे हुआ जा सकता है। तब श्रीरामकृष्ण ने बताया कि व्यक्ति को उस दिशा में सोचना ही नहीं चाहिये। उसे निरन्तर ईश्वर का

चिन्तन करते रहना चाहिये तभी वह कामभाव से मुक्त हो सकता है।

श्रीरामकृष्ण जानते थे कि हरिनाथ वेदान्त का अध्येता है और अपने जीवन को तदनुरूप बनाने का प्रयास कर रहा है। वे एक दिन हरिनाथ से बोले, "लोग कहते हैं कि तुम वेदान्त का अध्ययन-मनन कर रहे हो। यह अच्छी बात है। पर वेदान्त-दर्शन क्या सिखाता है? केवल ब्रह्म ही सत्य है और अन्य सब मिथ्या है, यही उसकी सार बात है न, या इसके अलावा कुछ और भी है? फिर तुम मिथ्या को त्याग कर सत्य को क्यों नहीं प्राप्त करते?" इस प्रकार ठाकुर ने हरिनाथ को वेदान्त के सम्बन्ध में एक नयी दृष्टि प्रदान की।

कुछ दिनों के बाद श्रीरामकृष्ण कलकत्ता गये और हरिनाथ को वहाँ बुलवाया। जिस समय हरिनाथ वहाँ पहुँचे उस समय ठाकुर अर्धचेतनावस्था में भक्तों को उपदेश दे रहे थे। वे कह रहे थे, "दृश्यमान् जगत् को मिथ्या समझना सरल नहीं है। प्रभु की विशेष कृपा के बिना यह ज्ञान प्राप्त नहीं होता। केवल स्वयं प्रयत्न करके इस तथ्य की अनुभूति नहीं की जा सकती। मनुष्य तो एक क्षुद्रातिक्षुद्र जीव है। उसकी शक्तियाँ बहुत सीमित हैं। वह भला स्वयं सत्य के कितने छोटे अंश को प्राप्त कर सकता है?" हरिनाथ को प्रतीत हुआ कि श्रीरामकृष्ण के ये वचन उन्हीं के लिये हैं क्योंकि उन दिनों वे आत्म-साक्षात्कार के लिये जी-तोड़ प्रयास कर

रहे थे । आज श्रीरामकृष्ण ने उन्हें भगवत-समर्पण का पाठ पढ़ाया था ।

श्रीरामकृष्ण हरिनाथ से अपार प्रेम करते थे । एक बार हरिनाथ बहुत दिनों के बाद दक्षिणेश्वर पहुँचे । उन्हें देखते ही ठाकुर कातर हो उठे और भावविह्वल होकर कहने लगे, "अरे, तुम यहाँ आते क्यों नहीं ? मैं तुम लोगों को इसलिये देखना चाहता हूँ कि मैं जानता हूँ, तुम लोग भगवान् के विशेष जन हो । अन्यथा मैं तुम लोगों से क्या चाहूँगा ? तुम लोगों में तो मुझे कौड़ी भर की चीज भेंट करने की सामर्थ्य नहीं है । अगर मैं तुम्हारे घर जाऊँ तो मुझे बिठाने के लिये तुम्हारे पास एक टूटी चटाई भी नहीं होगी । फिर भी मैं तुमसे इतना प्रेम करता हूँ । देखो, यहाँ (अपनी ओर बताते हुए) आने से मत चूकना; क्योंकि यहीं से तुम्हें सब कुछ मिल जायेगा । अगर तुम्हारा यह विश्वास हो कि तुम्हें किसी अन्य स्थान में ईश्वर की प्राप्ति हो सकती है तो तुम वहाँ अवश्य जाओ । मैं केवल यही चाहता हूँ कि तुम प्रभु का दर्शन कर लो, संसार के दुःख से तर जाओ और दैवी आनन्द का आस्वाद करो । चाहे जो हो, उसे इसी जीवन में पाने का प्रयास करो । पर माँ ने मुझे बता दिया है कि यदि तुम केवल यहाँ आते रहोगे तो तुम्हें अन्य कोई प्रयत्न किये बिना ही ईश्वर का दर्शन हो जायेगा ।" इतना कहकर वे रुदन करने लगे ।

हरिनाथ की श्रद्धा-भक्ति भी ठाकुर के प्रति असीम

थी। अंत-अंत में जब वे बीमार पड़े तब उन्होंने कहा था कि ठाकुर के संग में उन्हें जो उपलब्धि हुई है उसका ऋण जीवन भर दुःख सहकर भी नहीं चुकाया जा सकता। श्रीरामकृष्णदेव के लीला-संवरण के उपरान्त अन्य गुरुभाइयों के साथ हरिनाथ भी वराहनगर मठ में आ गये और संन्यास ग्रहण कर स्वामी तुरीयानन्द बन गये।

स्वामी तुरीयानन्द के मन में स्वयं को ईश्वर के भरोसे छोड़कर तीर्थाटन और तपस्या करने की इच्छा जगी और वे परिव्रजन के लिये निकल पड़े। इसी बीच जब स्वामी विवेकानन्द सन् १८९३ में अमेरिका जाने की तैयारी कर रहे थे तब उन्हें विदा करने के लिये वे बम्बई तक उनके साथ गये थे। स्वामी विवेकानन्द के अनुपम तेज को देखकर तुरीयानन्द जी जान गये थे कि वे साधना में पूर्णकाम हो गये हैं और अपनी लोकोत्तर अनुभूति को अशेष मानवता को प्रदान करने के लिये तत्पर हैं। उस समय स्वामी विवेकानन्द जी उन्हें बताया था, "हरि भाई, मैं यह तो नहीं जानता कि मुझे तपस्या और तितिक्षा से क्या मिला है, पर मैं इतना अवश्य जानता हूँ कि भारत की यात्रा करने से मेरा हृदय अत्यधिक विशाल हो गया है। मेरा हृदय भारत के असंख्य पीड़ितों और गरीबों को देखकर हाहाकार कर रहा है। मैं देखना चाहता हूँ कि मैं उनके लिए क्या कर सकता हूँ!"

स्वामी विवेकानन्द को अमेरिका के लिये विदा कर तुरीयानन्द जी ने केदारनाथ और बद्रीनारायण की यात्रा की। उन्होंने कुछ दिन गढ़वाल के श्रीनगर में तपश्चर्या में व्यतीत किये। कालान्तर में इस समय की अपनी उच्च मानसिक स्थिति का वर्णन करते हुए उन्होंने कहा था, "मैं निरन्तर ऊँची अवस्था में रहा करता था। मेरे मन में प्रभु को प्राप्त करने की ही एकमात्र इच्छा रहती थी। मुझे आठ उपनिषद् केवल कण्ठस्थ ही नहीं थे अपितु मैं उनके प्रत्येक मंत्र के अर्थ में डूब जाता था।" स्वामी तुरीयानन्द जितेन्द्रिय थे। वे जब ध्यान में बैठ जाते तो कोई भी बाहरी व्यवधान उन्हें प्रभावित नहीं कर पाता था। रामकृष्ण मिशन के एक संन्यासी से इसकी चर्चा करते हुए उन्होंने कहा था, "जब मैं ध्यान के लिए बैठता हूँ तब अपने मन के दरवाजों को बन्द कर उसमें ताला लगा देता हूँ और तब कोई बाहरी संवेदना वहाँ नहीं पहुँच पाती। जब मैं ताला खोलता हूँ तभी मन बाह्य जगत् की वस्तुओं को पहचान पाता है।" एक बार एक युवा संन्यासी को ध्यान की प्रणाली बताते हुए उन्होंने कहा था, "अपने मन के दरवाजे पर बड़े-बड़े अक्षरों में 'प्रवेश-निषिद्ध' लिख लो। तब कोई भी बाहरी वस्तु तुम्हें ध्यान के समय परेशान नहीं करेगी। विक्षेप तो तब होता है जब तुम स्वयं बाहरी वस्तुओं को नहीं रोकते और उन्हें अपने मन में आने देते हो।"

अमेरिका से स्वामी विवेकानन्द अपने गुरुभाइयों को

एक स्थान पर एकत्रित होने के लिए लगातार पत्र लिख रहे थे। स्वामी तुरीयानन्द उनके आग्रह को न टाल सके और कलकत्ता लौट आये। तब मठ वराहनगर से आलमवाजार आ गया था। यहाँ तुरीयानन्दजी ने युवा ब्रह्मचारियों के प्रशिक्षण का कार्य अपने हाथ में लिया और आसपास प्रवचन भी करने लगे। सन् १८९९ में जब स्वामी विवेकानन्द दूसरी बार अमेरिका जा रहे थे तब उन्होंने तुरीयानन्दजी को अपने साथ चलने के लिए कहा। पर तुरीयानन्दजी तैयार नहीं हुए। स्वामी विवेकानन्द उन्हें समझाकर हार गये। अन्त में स्वामी विवेकानन्दजी ने उनके गले में दोनों हाथों को डाल दिया और शिशु के समान रुदन करते हुए कहने लगे, "ओ हरिभाई, क्या तुम यह नहीं देख रहे हो कि मैंने ठाकुर के कार्य में अपने जीवन का प्रत्येक कण लगा दिया है और अब मैं मृत्यु के निकट पहुँच गया हूँ? क्या तुम केवल देखते ही रहोगे और मेरा कुछ भार स्वयं उठाकर मेरी सहायता नहीं करोगे?" तुरीयानन्दजी उनके करुणार्द्र वचनों से विगलित हो गये और तत्काल अमेरिका जाने के लिये राजी हो गये।

स्वामी विवेकानन्द की तुरीयानन्दजी के सम्बन्ध में बड़ी ऊँची धारणा थी। उन्होंने अपने अमेरिका से भेजे गये एक पत्र में लिखा था, "जब भी मैं हरि के विलक्षण वैराग्य, तीक्ष्ण मेधा और उत्कट निष्ठा के बारे में सोचता हूँ तब मुझे एक नयी शक्ति मिलती है।" अमेरिका से

पहली बार वापस लौटते समय विवेकानन्दजी ने सन-फ्रांसिसको के अपने विद्यार्थियों से कहा था, "तुम लोगों ने मुझमें क्षात्रवीर्य का प्रकाश देखा है। अब मैं तुम लोगों के पास अपने ऐसे बन्धु को भेजूँगा जो ब्रह्मतेज से दीप्त है, जो ब्रह्म का प्रतीक है।"

स्वामी तुरीयानन्द इंग्लैण्ड होते हुए सन् १८९९ के अगस्त मास में न्यूयार्क पहुँचे। वहाँ उन्होंने वेदान्त सोसायटी का कार्य अपने हाथ में लिया। तदुपरान्त वे माउन्ट क्लेयर में कुछ दिन रुककर केलिफोर्निया प्रदेश में स्थित 'शान्ति-आश्रम' में आ गये। स्वामी विवेकानन्द के एक अमरीकी शिष्य ने उन्हें केलिफोर्निया के सन एण्टानी वेली में १६० एकड़ भूमि प्रदान की थी। उसकी इच्छा थी कि वहाँ एक ऐसा आश्रम बनाया जाये जहाँ वेदान्त का अध्ययन करने वाले अमरीकी विद्यार्थी भारतीय संन्यासियों के समान जीवन बिता सकें। स्वामी विवेकानन्द ने वह उपहार स्वीकार कर लिया और स्वामी तुरीयानन्द को शान्ति आश्रम की स्थापना के लिए भेजा। तुरीयानन्दजी की प्रवृत्ति जन-सभाओं में भाषण देने को नहीं थी। इसलिए स्वामी विवेकानन्द ने उनसे कहा था कि यदि वे अमेरिका में जाकर केवल जीवन बिताएँ तो उसका प्रभाव भाषणों से भी अधिक होगा। स्वामी तुरीयानन्द का जीवन भगवत्-समर्पण का जीवन था। वे जहाँ भी रहते, एक आध्यात्मिक वातावरण व्याप्त रहता। उन्हें अमेरिका में अधिक भाषण नहीं देना पड़ा।

उनके दैवी चरित्र का प्रभाव सब पर मूक रूप से पड़ता रहा। शान्ति आश्रम में तुरीयानन्दजी बारह विद्यार्थियों को लेकर पहुँचे। अनेकानेक भौतिक असुविधाओं के होते हुए भी सारा कार्य व्यवस्थित रूप से चल निकला। जब एक अमरीकी शिष्य ने उनसे आश्रम के नियम निर्धारित करने के लिए कहा तब उन्होंने उत्तर दिया, "तुम नियम क्यों चाहते हो? क्या बिना औपचारिक नियमों के सब-कुछ व्यवस्थित और सुचारु रूप से नहीं चल रहा है? क्या तुम नहीं देखते कि सभी लोग कितने नियमित हैं? जगन्माता के अपने ही नियम हैं। हमें उसी से संतोष करना चाहिये। हमारा कोई संघ नहीं है, पर देखो तो, हम कितने संगठित हैं। यह उच्चतम संघ है क्योंकि यह आध्यात्मिक नियमों पर आधारित है।"

तुरीयानन्दजी के प्रशिक्षण की विधि अनूठी थी। उनका हृदय अपार प्रेममय था। पर वे उसे संयमित रखते थे। उनकी गम्भीर और संयत मुद्रा से ही सब कुछ व्यवस्थित हो जाता था। जब एक जिज्ञासु विद्यार्थी ने उनसे पूछा कि शांति आश्रम में विविध मनोवृत्तियों वाले व्यक्ति एक साथ शांति से कैसे रहते हैं, तो उन्होंने कहा, "जब तक हम जगन्माता के प्रति निष्ठावान् हैं तब तक हमें किसी भी अनौचित्य का भय नहीं है। पर जिस क्षण हम उन्हें भूल जायेंगे उसी क्षण महान् विपत्ति आ जायेगी। इसीलिए मैं तुम लोगों से निरन्तर

जगन्माता का चिन्तन करने का आग्रह करता हूँ।" इन दिनों तुरीयानन्दजी के अधरों पर निरन्तर जगदम्वा का पवित्र नाम उच्चरित होता रहता था। कभी कभी शिक्षा देते समय उनमें दिव्य आवेश आ जाता। वे विद्यार्थियों को आत्म-साक्षात्कार को जीवन का उद्देश्य बनाने की सीख देते और कहते, "अपनी मुट्ठियाँ बाँध लो और कहो कि मैं विजयी बनूँगा। 'अभी या कभी नहीं।' 'मैं इसी जीवन में ईश्वर का साक्षात्कार करूँगा'—इसे अपना भरत-वाक्य बना लो। . . . यही एकमात्र पथ है। कभी स्थगित मत करो। जिसे तुम सही समझते हो उसे करो और तत्काल करो। उसके लिये विराम मत करो। सफलता का पथ अच्छे मन्तव्यों से बनता है। पर अच्छे मन्तव्य ही पर्याप्त नहीं होते। याद रखो, यह जीवन बलशाली और निष्ठावान् व्यक्तियों के लिये है, न कि कमजोर के लिये। सदैव अपने साक्षी बनो। मन को कभी भी ढील मत दो।"

स्वामी तुरीयानन्दजी के सम्पर्क में आने वाले व्यक्तियों का जीवन आश्चर्यजनक रूप से परिवर्तित हो गया था। उनके लोकोत्तर चरित्र के प्रभाव से उनके शिष्यों के हृदय में आध्यात्मिकता की ज्योति-शिखा दमक उठी। न जाने कितने व्यक्ति उनके साहचर्य में पवित्र जीवन के पथ पर अग्रसर हुए थे। उनके दैवी व्यक्तित्व का स्मरण करते हुए उनके एक अमरीकी

विद्यार्थी ने लिखा था, "स्वामी तुरीयानन्दजी के बारे में सोचना मन को पवित्र बनाना है, उनके जीवन का स्मरण करना नये प्रयास के लिये प्रेरणा प्राप्त करना है।"

लोगों के जीवन को परिवर्तित करना सहज काम नहीं है। इसके लिये तुरीयानन्दजी को अमरीका में दो वर्षों तक अपार श्रम करना पड़ा। उनका स्वास्थ्य जाता रहा। जलवायु-परिवर्तन आवश्यक होने पर वे भारत लौटे। पर इसके पहले ही स्वामी विवेकानन्द महासमाधि में लीन हो चुके थे। इससे तुरीयानन्दजी के हृदय पर असह्य आघात पहुँचा। वे कुछ दिन बेलुड़ मठ में बिताकर पुनः तपस्या के लिये निकल गये। उन्होंने लगभग आठ वर्षों तक वृन्दावन, गढ़मुक्तेश्वर, नंगल और उत्तरकाशी में कठोर तपश्चर्या की। कठिन तितिक्षा के कारण उनका शरीर टूटता गया। पर वे मन को यह कहकर प्रबोधित करते रहे, "पीड़ा और देह को अपनी चिन्ता करने दो, पर हे मेरे मन, तुम सदैव ईश्वर-चिन्तन में निमग्न रहो।" सन् १९११ में उन्हें मधुमेह की शिकायत हुई और वह लगातार बढ़ता गया। इसके साथ ही उनकी पीठ पर एक व्रण भी हो गया जिसके लिये उन्हें अनेक बार आपरेशन कराना पड़ा। उनमें अपने मन को शरीर से अलग कर लेने की अपूर्व क्षमता थी। इतने गम्भीर आपरेशन में भी उन्होंने क्लोरोफार्म का उपयोग करने की अनुमति नहीं दी। सर्जन उनकी इस अद्भुत क्षमता को देखकर चकित थे।

अपने जीवन के अन्तिम तीन वर्षों में स्वामी तुरीयानन्द काशी के रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम में थे। वहीं २१ जुलाई सन् १९२२ को उन्होंने देहत्याग किया था। जिस प्रकार उनका जीवन विलक्षण था, उसी प्रकार उनका देहावसान भी अद्‌भुत था। ऐसा लगता था मानो वे गाढ़ी नींद में सो गये हों। पीड़ा या क्लेश का कोई चिह्न उनके मुख पर नहीं था।

स्वामी तुरीयानन्द प्रारम्भ में आत्मा की सत्ता पर अगाध विश्वास करते थे और परवर्ती जीवन में वे भगवदीय इच्छा के प्रति पूर्ण रूप से समर्पित हो गये थे। उनके जीवन में ज्ञान और भक्ति की प्रवृत्तियाँ बड़ी तीव्र थीं। उनमें कोई विरोध नहीं था। वे कहा करते थे, "चिड़िया अनन्त आकाश में उड़ती है और थककर जहाज के मस्तूल पर भी बैठ जाती है। यह बात आत्मनिष्ठ व्यक्ति के सम्बन्ध में भी सच है। वह निरन्तर आत्म-साक्षात्कार के लिये प्रयत्न और संघर्ष करता है। प्रत्येक संघर्ष उसके अहं का नाश करता है। जब उसके अहं का पूर्ण नाश हो जाता है तब उसे अनुभूति होती है कि जगन्माता ही सब-कुछ हैं। इस दशा तक पहुँचने के लिये निरन्तर प्रयत्न करना चाहिये। आध्यात्मिक जीवन में आत्मप्रवंचना का कोई स्थान नहीं होता। कुछ लोग अकर्मण्यता को ही दैवी इच्छा मानकर बैठे रहते हैं।"

तुरीयानन्दजी के जीवन में ज्ञान, कर्म, योग और

भक्ति का सुन्दर समन्वय हुआ था। वे वैराग्य के ज्वलन्त विग्रह थे। यद्यपि वे आत्मोन्मुखी और तपस्याप्रिय होने के कारण स्वामी विवेकानन्द द्वारा प्रवर्तित सेवा-कार्य में अधिक भाग नहीं ले सके, पर उसके प्रति उनकी अगाध श्रद्धा थी। उनका विश्वास था कि यदि कोई निष्ठा से रोगी और पीड़ित की सेवा करे तो वह एक ही दिन में उच्चतम आध्यात्मिक अनुभूतियों को प्राप्त कर सकता है। जब वे मृत्युशय्या पर पड़े थे तब उन्होंने एक अस्थिरमना शंकालु शिष्य को समझाते हुए कहा था, "शंका मत करो। पूरी निष्ठा से स्वामीजी (विवेकानन्द) के द्वारा प्रवर्तित कार्य में जुट जाओ। इसी से तुम्हें समाधि और अन्य उच्चतम आध्यात्मिक अनुभूतियाँ मिलेंगी। मन में किसी संदेह को स्थान मत दो। पूरी शक्ति से कार्य में जुट जाओ। एक बार स्वामी विवेकानन्दजी ने मुझसे कहा था, 'हरिभाई, मैंने ईश्वर-साक्षात्कार के लिये एक नया रास्ता बनाया है। अब तक लोग सोचते थे कि प्रार्थना, ध्यान आदि से ही मुक्ति मिल सकती है, पर अब मेरे बच्चे केवल निःस्वार्थ कर्म करके ही जीवन्मुक्ति के आनन्द का अनुभव कर लेंगे।' इसलिये शंका मत करो। बाद का दायित्व उनका है।"

स्वामी तुरीयानन्दजी का हृदय बड़ा ही भावप्रवण था। महात्मा गाँधी के सेवा-कार्य से वे अतीव प्रसन्न थे और उनका विश्वास था कि उनके द्वारा समूचे भारत-वर्ष का कल्याण साधित होगा।

विश्व के धर्मों में उफान

स्वामी प्रभवानन्द

(स्वामी प्रभवानन्दजी महाराज कैलिफोर्निया में हालीवुड स्थित वेदान्त सोसायटी ऑफ सदर्न कैलिफोर्निया के अध्यक्ष हैं। उन्होंने प्रस्तुत भाषण सान्ता बारबरा में ४ फरवरी, १९६५ को स्थानीय प्रौढ़ शिक्षा केन्द्र एवं कैथोलिक ह्यूमन रिलेशंस काउंसिल के सम्मिलित तत्त्वावधान में आयोजित एक परिसंवाद में दिया था। मूल लेख उन्हीं के द्वारा संस्थापित 'वेदान्त एंड दि वेस्ट' नामक द्वैमासिक पत्रिका में प्रकाशित हुआ था। उसकी उपादेयता को देखते हुए हम उसे हिन्दी पाठकों के लाभार्थ यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं। स०)

जब मुझसे कहा गया कि मैं 'विश्व के धर्मों में उफान' इस विषय पर बोलूँ तो मैं यह कहते हुए सहर्ष राजी हो गया, "वाह, यह विषय तो मुझे प्रिय है।" किन्तु जब मैं गम्भीरता से विषय पर विचार करने लगा तो अपने आप से पूछने लगा, "रोमन कैथोलिक धर्म को छोड़कर विश्व के अन्य धर्मों में कोई उफान है कहाँ ? और रोमन कैथोलिक की यह उफान भी एक्यूमेनिकल कान्फरेन्स द्वारा प्रकाश में आयी है।" भले ही इस कान्फरेन्स ने प्रोटेस्टेंट ईसाई मत में विरोध पैदा किया है और शायद कुछ मात्रा में यहूदी धर्म में भी, पर मैं नहीं सोचता कि हिन्दू, बौद्ध और पारसी धर्म के अनुयायी इस कान्फरेन्स के बारे में जानते भी हैं। हाँ, उनमें जो लोग विशेष शिक्षित हैं उनकी बात अलग हो सकती है।

कुछ समय पूर्व जब छठे पोप पाल भारत गये, उस समय बौद्धों का सम्मेलन था। विश्व भर के बौद्ध नयी दिल्ली में मिले और समाचार-पत्रों से मैंने यही जाना कि प्रतिनिधियों ने केवल एक मुद्दे पर विचार किया– वह यह कि विश्व में शान्ति कैसे स्थापित की जाय। वहाँ बौद्ध धर्म में उफान के कोई लक्षण नहीं दिखायी दिये।

रोमन कैथोलिक चर्च जितना संघबद्ध है उतना मेरी जानकारी में अन्य कोई धर्म नहीं है। हिन्दू धर्म या वेदान्त पर मैं अधिकारपूर्वक कुछ कह सकता हूँ। इतना तो कह ही सकता हूँ कि वह संघबद्ध धर्म नहीं है। हमारे कोई पोप नहीं हैं। हमारे ऐसा कोई व्यक्ति-समूह नहीं जो हमें बता सके कि इस पर विश्वास करो और इस पर विश्वास मत करो, जो सुधार ला सके और अपने अनुयायियों को नये आदर्श दे सके। अतः ईसाई धर्म के सन्दर्भ में उफान का जो तात्पर्य है वह हिन्दू धर्म पर प्रयुक्त नहीं हो सकता। तथापि हिन्दू धर्म गतिशील है। हर युग में ऐसे नर-नारी पैदा हुए हैं जिन्होंने ईश्वर को देखा, उन्हें जाना, उनसे वार्तालाप किया और उनसे अपने एकत्व की अनुभूति की। उन लोगों ने किसी सिद्धान्त या मत का उपदेश नहीं दिया; उन्होंने लोगों को यही बतलाया कि वे ईश्वर को कैसे पा सकते हैं। हमारा धर्म इसलिए भी गतिशून्य नहीं कहा जा सकता कि उसमें नित्य ही एक प्रकार की

उफान चल रही है और यह उफान हर आध्यात्मिक जिज्ञासु के हृदय में उठती है। इस बात को मैं आगे चलकर समझाऊँगा।

आधुनिक विज्ञान साधुवाद का पात्र है क्योंकि उसने देश, काल और भौगोलिक सीमाओं को बहुत कुछ मिटाकर संसार को हमारे लिए एक कर दिया है। पर यह हमें अवश्यमेव स्वीकार करना होगा कि मानवता एक नहीं हुई है, क्योंकि हममें से कोई भी यह दावा नहीं कर सकता कि हम एक धर्म, एक राष्ट्र और एक संस्कृति की सीमाओं में रहते हैं। वास्तव में, ज्यों ज्यों हम विश्व के भिन्न भिन्न लोगों के निकटतर सम्पर्क में आते गये हैं त्यों त्यों हमें अनेक संस्कृतियों और धर्मों तथा अनेक सभ्यताओं की जानकारी हुई है। दुर्भाग्य है कि ऐसे कई लोग हैं जो सोचते हैं कि उनका अपना धर्म ही एकमात्र खरा धर्म है और दूसरे धर्म खोटे हैं। फिर भी, मुझे यह बतलाते प्रसन्नता होती है कि बहुत से लोग इस बात के लिए आज अधिकाधिक उत्सुक हैं कि अन्य धर्मों को सहानुभूतिपूर्वक समझने का प्रयास किया जाना चाहिए। इसका प्रमाण यही है कि आज आप मुझे यहाँ पर बोलते हुए पाते हैं।

भारत ने अनादिकाल से जिस सार्वभौमता के आदर्श और सर्वधर्मसमन्वय की शिक्षा दी है उसे आपके समक्ष रखने का प्रयास करूँगा। पर इस विषय पर चर्चा करने से पहले मैं यह बतलाना चाहूँगा कि छठे

पोप पाल की भारत-यात्रा के समय वहाँ की हिन्दू जनता ने उस सार्वभौमता और समन्वय को कैसे प्रदर्शित किया। बिना किसी की भावनाओं पर ठेस पहुँचाए क्या मैं विनयपूर्वक कहूँ कि पोप पाल भारत से एक महान् पाठ सीखकर आये ? अपनी बात को सिद्ध करने के लिए पहले मैं पोप पाल के उस पत्र का हवाला दूँगा जो उन्होंने भारत जाने के पहले घोषित किया था। उन्होंने कहा, "वास्तव में सत्यनिष्ठा हमें अपना विश्वास घोषित करने के लिए बाध्य करती है कि केवल एक ही धर्म सच्चा है और वह है ईसाई धर्म। हम आशा करते हैं कि जो लोग ईश्वर को खोजते और पूजते हैं, वे इसकी सत्यता को स्वीकार करेंगे।" मैं इस पर निम्नलिखित टिप्पणी करना चाहूँगा। हम अवश्य स्वीकार करते हैं कि ईसाई धर्म में सत्यता है, किन्तु सत्यता पर मात्र उसी का एकाधिकार नहीं है।

मैं पुनः पोप पाल के पहले वाक्य को दोहराऊँ— "वास्तव में सत्यनिष्ठा हमें अपना विश्वास घोषित करने के लिए बाध्य करती है कि केवल एक ही धर्म सच्चा है और वह है ईसाई धर्म।" पर आप सन्त आगस्टीन के शब्दों को देखें। वे कहते हैं, "जिसे ईसाई धर्म कहा जाता है वह प्राचीन लोगों के बीच विद्यमान था और मानवजाति के प्रारम्भ से लेकर ईसा के देहधारण तक ऐसा कोई समय नहीं था जब वह न रहा हो। ईसा के समय से वह सत्य धर्म जो पहले से विद्यमान था, ईसाई

धर्म कहा जाने लगा।" मैं यहाँ पर कहूँगा कि वह प्राचीन धर्म आज भी एक जीवित धर्म है और वह न केवल ईसाई धर्म के नाम से जाना जाता है बल्कि हिन्दू धर्म के नाम से भी वह प्रसिद्ध है तथा वही यहूदी, पारसी, इस्लाम और बौद्ध धर्मों के नाम से जाना जाता है। मैं उसे सनातन धर्म कहता हूँ जिसका न कोई आदि है, न अन्त। ईश्वर और उसका सत्य शाश्वत, अनादि और अन्तहीन है। और ईश्वर का सत्य ही सनातन धर्म है।

मैं फिर से पोप पाल के उन शब्दों को उद्धृत करता हूँ जो उन्होंने भारत से वापस लौटकर कहे। उनके ये शब्द भारत के हम हिन्दुओं और बौद्धों के लिए बड़े सुखकर हैं। (मैं १ जनवरी, १९६५ के 'इंडिया न्यूज' से उनके शब्द उद्धृत कर रहा हूँ।) "पोप पाल छठे ने २२ दिसम्बर को अपनी इस माह के प्रारम्भ में की गयी बम्बई-यात्रा को 'अपने लिए अनुपम मानव-मूल्य से भरा' बतलाया। धर्माध्यक्ष ने संसार को अपने बड़े दिन के सन्देश में कहा, 'हो सकता था कि हम वहाँ पर (बम्बई में) अपरिचित और कटे से रह जाते, केवल अपने धर्मावलम्बी भाइयों के द्वारा घिरे रहते...किन्तु हमने देखा कि हम तो समूची जनता से मिले।' उन्होंने कहा, 'हमें तो ऐसा लगा कि वह विशाल भारत, तथा साथ ही सम्पूर्ण एशिया का प्रतिनिधित्व करनेवाली महती भीड़ थी।'

"पोप पाल ने आगे कहा, 'यह देश (भारत) कैथोलिक नहीं है, फिर भी लोगों की कैसी सहृदयता, मन की कैसी उदारता देखी! रोम से आनेवाले इस अनजान यात्री की एक झलक पाने की कैसी आतुरता, इससे एक शब्द सुनने की कैसी तत्परता!' धर्माध्यक्ष पुनः कहते हैं, 'वह परस्पर एक दूसरे को समझने का क्षण था, वह मनों के आपस में मिलने का क्षण था। हमें पता नहीं कि हर्ष मनाती उस विशाल भीड़ ने हममें क्या देखा, पर हमने उस भीड़ में एक ऐसी मानवता देखी जो अतिशय उदार थी और जो अपने हजार वर्ष की सांस्कृतिक परम्पराओं से एकरस थी। इस भीड़ के सभी लोग ईसाई नहीं थे, तथापि वे गहरे रूप से आध्यात्मिक थे तथा तरह तरह से इतने अच्छे और मन को अपनी ओर खींच लेने वाले थे।' "

पोप पाल नहीं जानते थे कि हिन्दू लोग धर्म और आध्यात्मिक जीवन के प्रति कैसा दृष्टिकोण रखते हैं। वे लोग पोप पाल छठे में एक ईसाई को देखने नहीं आये थे, न ही एक ऐसे व्यक्ति को जो किसी सम्प्रदाय या धर्म का माननेवाला था, बल्कि वे तो भगवद्भावी व्यक्ति को देखने आये थे। इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता कि ऐसा व्यक्ति हिन्दू है या ईसाई या बौद्ध, मुसलमान है या यहूदी। भगवान् का आदमी बस भगवान् का आदमी है। हिन्दू उसे वैसे ही स्वीकार करेगा जैसे वह एक हिन्दू सन्त को स्वीकार करता है। अतएव मैं विश्वास

करता हूँ कि भारत विश्व को कुछ दे सकता है,– उसके पास सबको स्वीकार करने का जो भाव है उसी में विश्व के धर्मों के समन्वय की कुंजी निहित है।

•

इससे पूर्व कि हम उस समन्वय के आधारभूत तत्त्वों की चर्चा करें, मैं आपके समक्ष कतिपय तथ्य प्रस्तुत करना चाहता हूँ जो काल और इतिहास के निकष पर कसे गये हैं।

संसार में छः प्रधान धर्म हैं– हिन्दू धर्म या वेदान्त, जो जीवित धर्मों में सबसे प्राचीन है; बौद्ध धर्म; यहूदी धर्म; ईसाई धर्म; इस्लाम धर्म; और पारसी धर्म। ये छहों प्रधान धर्म कितने ही सम्प्रदायों में विभक्त हैं। ईसाई और इस्लाम ये दो धर्म सबसे आक्रामक हैं। ईसाई अब भी विश्वास करते हैं कि उनका लक्ष्य सारे संसार को ईसाइयत में रँग देने का है–सबको ईसाई बना डालने का है। पर मैं एक बात पूछूँ ? –मान लो कि तुम सारे संसार को ईसाई बनाने में समर्थ हो गये, तो उससे तुमने हासिल क्या किया ? वैसा करके क्या तुम सबके पास शान्ति पहुँचा सकते हो ? चूँकि लोग ईसाई बन गये इसीलिए क्या उनके हृदय में ईश्वर और मानवता के प्रति प्यार जगा सकते हो ? ईसा जिस शान्ति को इन्द्रिय-मनातीत कहते हैं, क्या सचमुच वह शान्ति तुम संसार के नर-नारियों को दे सकते हो ? कहा गया है कि "ईसा अधिकारपूर्ण वाणी में बोले, स्क्राइब्ज़ और

फैरिसीज़ के समान नहीं !" क्या यह सत्य नहीं है कि ईसा ने हमें इसी जीवन में स्वर्ग के राज्य में प्रवेश करने की शिक्षा दी है ? तो क्या ईसाई धर्म अपना लेने मात्र से लोग आज और यहीं स्वर्ग के राज्य को पा लेंगे ? यदि ऐसा है तो फिर ईसाई धर्म लोगों के समक्ष मात्र भविष्य की आशा–– मरने के बाद स्वर्ग की आशा क्यों रखता है ? वह स्वर्ग है कहाँ ? ईसा ने कहा, "भीतर"।

मेरे मित्रो ! आओ, हम सब हाथ मिलायें। हिन्दू, ईसाई, बौद्ध, मुसलमान, यहूदी, पारसी– हम सबके सब एक साथ खड़े हों और संसार को न तो ईसाइयत में रँगने की कोशिश करें, न हिन्दुत्व में, बल्कि उसे हम आध्यात्मिकता के रंग में रँगा दें।

सभी लोग समूचे विश्व को एक करने का स्वप्न देखते हैं। ईसाई और मुसलमान इसके लिए प्रयत्नशील रहे हैं पर वे सफल नहीं हुए और भविष्य में भी असफल ही रहेंगे। हिन्दू भी विश्व-एकत्व का सपना देखते हैं और हो सकता है कि वे भी असफल हो जायें। किन्तु हिन्दुओं का एतत्सम्बन्धी जो दृष्टिकोण है वह हमारे महान् आचार्य स्वामी विवेकानन्द ने बड़े सुन्दर ढंग से यों बताया है :–

"यदि कोई सार्वभौम धर्म हो सकता है तो वह ऐसा होगा जो किसी देश या काल के द्वारा सीमित नहीं होगा; जो अपने प्रतिपाद्य ईश्वर की ही भाँति अनन्त होगा और जिसका सूर्य कृष्ण और क्राइस्ट के

अनुयायियों पर, साधुओं और पापियों पर समान रूप से चमकेगा। वह धर्म न तो ब्राह्मणों का होगा, न बौद्धों का, न ईसाइयों का और न मुसलमानों का, वरन् इन सभी धर्मों का समष्टिस्वरूप होते हुए भी उसमें उन्नति का अनन्त पथ खुला रहेगा। वह इतना व्यापक होगा कि अपनी असंख्य प्रसारित बाहुओं द्वारा सृष्टि के प्रत्येक मनुष्य का आलिंगन करेगा और उसे अपने हृदय में स्थान देगा, चाहे वह मनुष्य हिंस्रक पशु से किंचित् ही उठा हुआ, अति नीच, बर्बर और जंगली हो, अथवा अपने मस्तिष्क और हृदय के सद्गुणों के कारण मानव-समाज से इतना ऊँचा उठ गया हो कि लोग उसकी मानवी प्रकृति में शंका करते हुए देवता के समान उसकी पूजा करते हों। वह विश्वधर्म ऐसा होगा कि उसमें अविश्वासियों पर अत्याचार करने या उनके प्रति असहिष्णुता प्रकट करने की नीति नहीं रहेगी; वह धर्म प्रत्येक स्त्री और पुरुष के ईश्वरीय स्वरूप को स्वीकार करेगा और उसका सम्पूर्ण बल मनुष्यमात्र को अपनी सच्ची, ईश्वरीय प्रकृति का साक्षात्कार करने के लिए सहायता देने में ही केन्द्रित रहेगा।"

यदि हम सैद्धान्तिक दृष्टिकोण को छोड़ दें और सामान्य दृष्टि से ही देखें तो पता चलता है कि विश्व के सभी महान् धर्मों में अतिशय जीवनीशक्ति विद्यमान है, क्योंकि उनमें से कोई भी धर्म नष्ट नहीं हुआ है। वे सभी जीवित हैं और भविष्य में भी प्राणवान् रहेंगे, क्योंकि

उन सभी में सत्य विद्यमान है।

जीवित धर्मों में हिन्दू धर्म या वेदान्त और बौद्ध धर्म सबसे प्राचीन हैं। हिन्दू धर्म ने वैदिक काल से लेकर आज तक समूची मानवता के लिए धार्मिक स्वातन्त्र्य को मान्यता दी है। बौद्ध धर्म भी इसी मत का रहा है। मैं पुनः स्वामी विवेकानन्द के शब्दों को उद्धृत करूँ–"संसार के समक्ष यह सिद्ध कर दिया गया है कि शुद्धता, पवित्रता और दयाशीलता किसी सम्प्रदाय-विशेष की सम्पत्ति नहीं है तथा प्रत्येक धर्म ने श्रेष्ठ और अतिशय उन्नतचरित्र स्त्री-पुरुषों को जन्म दिया है। अब इन प्रत्यक्ष प्रमाणों के बावजूद यदि कोई ऐसा स्वप्न देखे कि अन्यान्य सारे धर्म नष्ट हो जायेंगे और एकमात्र उसका धर्म ही अपनी सर्वश्रेष्ठता के कारण जीवित रहेगा, तो उस पर मैं अपने हृदय के अन्तस्तल से दया करता हूँ और उसे स्पष्ट बतलाये देता हूँ कि वह दिन दूर नहीं है, जब उस-जैसे लोगों के अड़ंगों के बावजूद प्रत्येक धर्म की पताका पर यह स्वर्णाक्षरों में लिखा रहेगा–'सहयोग, न कि विरोध'; 'पर-भाव-ग्रहण, न कि पर-भाव-विनाश'; 'समन्वय और शान्ति, न कि मतभेद और कलह'!"

श्रीकृष्ण भगवद्गीता में कहते हैं–"मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव"–जैसे सूत्र में मणि गुँथे रहते हैं उसी प्रकार यह सब कुछ मुझमें गुँथा हुआ है। प्रत्येक धर्म या उसका हर सम्प्रदाय मानो एक एक मणि है।

ये धर्म मानो भिन्न भिन्न मणि हैं और सभी का ईशन करनेवाला वह ईश्वर उन सबको एक में गूँथनेवाला सूत्र है।

उस एकत्व की धारणा पर विचार करने से पूर्व हम धर्मों में विद्यमान विभेदों को भी देखने का प्रयास करें। इससे हमें पता चल सकेगा कि हम कहाँ पर और कैसे मिलें तथा यह भी कि वह समन्वय-सूत्र कहाँ पर है।

प्रत्येक धर्म तीन भागों में बँटा होता है–पहला दर्शन या तत्त्वज्ञान, जो मौलिक तत्त्वों को सामने रखता हुआ उद्देश्य को प्रकट करता है; दूसरा पौराणिक भाग, जो उपाख्यानों और सन्त-चरित्रों के माध्यम से दुर्बोध दर्शन को ठोस और सरस बना देता है; और तीसरा कर्मकाण्ड, जो प्रतीकात्मक होता है। हम प्रत्येक को लेकर विचार करें।

सर्वप्रथम, क्या आप कल्पना कर सकते हैं कि सब धर्मों के लिए कोई एक दर्शन या तत्त्वज्ञान हो सकता है? असम्भव। उदाहरणार्थ, आज ईसाई धर्म के ही अन्तर्गत ऐसे कई अच्छे धर्मशास्त्री जीवित हैं जो एक दूसरे से एकमत नहीं हैं। मत हरदम अलग अलग होंगे और मत को बदलकर एक ही दर्शन या तत्त्वज्ञान में निष्ठा लाने का प्रयास असफल रहेगा। विचारों की विभिन्नता ही चिन्तन का सृजन करती है, क्योंकि गति वहीं होती है जहाँ दो विरोधी शक्तियाँ मिलती हैं। बहुलता का तात्पर्य ही जीवन का विकास है। अतएव जब तक मानव-समाज चिन्तनशील है तब तक बहुत से भिन्न भिन्न

धर्ममत रहेंगे ही ।

तो क्या हम पुराणों में कहीं पर मिल सकते हैं ? जब मैं अपने पुराण की बात करता हूँ तो उसे इतिहास कहता हूँ और आपके पुराण को पुराण मानता हूँ । जब आप अपने पुराण की बात कहते हैं तो उसे इतिहास बताते हैं और मेरे पुराण को पुराण । अतः यहाँ भी कोई सामान्य आधार नहीं मिल सकता ।

अच्छा, कर्मकाण्ड को देखें । क्या हम यहाँ पर एक-मत हैं ? क्या हम एक दूसरे के प्रतीकों को समझते हैं ? इसके उत्तर में मैं दो उदाहरण दूँगा । आप लोगों ने गैर-हिन्दुओं के मुँह से यह बारम्बार सुना होगा कि हिन्दू लिंग के प्रतीक की उपासना करते हैं । पर वस्तुतः बात यह है कि हिन्दुओं की यह तनिक भी धारणा नहीं कि वह लिंग का प्रतीक है; वे तो उसमें सृष्टि का एक परोक्ष प्रतीक मात्र देखते हैं । अब उदाहरण के लिए हम ईसाइयों का 'होली कम्यूनियन' (Holy Communion) नामक धार्मिक कृत्य देखें । ईसाइयों के लिए वह बड़ा प्रेरणादायक है क्योंकि वे सोचते हैं कि वे ईसा के शरीर और रक्त का प्रसाद ग्रहण कर रहे हैं । पर गैर-ईसाइयों के लिए वह बड़ा बीभत्स है; उनके लिए वह नरमांस-भक्षण के सदृश घृणित हो सकता है !

तो क्या धर्मों के लिए कोई सामान्य आधार नहीं है ? सम्भवतः वे किसी पवित्र आत्मा की उपासना में एक हो सकें ? क्या ऐसा कोई पवित्र व्यक्तित्व है ? मैं

'वर्ल्ड काउंसिल आफ चर्चेज़' के सेक्रेटरी-जनरल मि० व्हिसर टी० हूफ्ट के शब्द उद्धृत करना चाहूँगा। वे कहते हैं, "हमें एक नया अवसर प्राप्त हुआ है और इसका लाभ उठाकर हमें यह पूरी तरह् स्पष्ट कर देना चाहिए कि हम जो कुछ कहते हैं वह अच्छी तरह सोच-समझकर ही कहते हैं; हमारा एकमात्र उद्देश्य संसार को यह प्रतीति करा देना है कि ईश्वर ने सारे संसार को ईसा मसीह में एक किया है।" मैं एक हिन्दू के नाते, और विशेषकर रामकृष्ण के अनुयायी के नाते, यह कह सकता हूँ कि मैं पूरे हृदय से ईसा मसीह को स्वीकार करता हूँ, पर मैं उन्हें ईश्वर के एकमात्र अवतार के रूप मे स्वीकार नहीं करता।

यद्यपि ईसा ने कहा है कि "मैं और मेरे पिता दोनों एक हैं", तथापि बहुत से ईसाई ईश्वरपुत्र को परमपिता से एक नहीं समझते। एक प्रसिद्ध ईसाई धर्मशास्त्री ने मुझे बतलाया कि 'पुत्र' और 'पिता' एक नहीं हैं। परन्तु जब हिन्दू ईसा मसीह को स्वीकार करता है, तो वह उनमें ईश्वर की विभूति को देखता है; वह सोचता है कि ईश्वर मानव-तन धारण कर ईसा के रूप में आये हैं। हम भगवद्गीता में पढ़ते हैं——

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥

आइए, हम तुलना करके देखें कि ईश्वर के इन कुछ अवतारों ने क्या कहा है। ईसा– "मैं पथ हूँ, सत्य हूँ, मैं ही जीवन हूँ।" "ऐ श्रम और बोझ से लदे लोगो, मेरे पास आओ, मैं तुम्हें विश्राम दूँगा।" कृष्ण– "मन्मना भव, मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु, मामेवैष्यसि...। सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज, अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।" और आज के युग में श्रीरामकृष्ण–"मैं आश्रय हूँ। यदि मनुष्य अपने समूचे मन को समेटकर मुझमें केन्द्रित करे तो सचमुच वह सब कुछ पा लेता है।"

मैं इन समस्त कथनों में दृढ़तापूर्वक विश्वास करता हूँ क्योंकि इनमें से प्रत्येक उस परम सत्य तक जाने का एक दरवाजा है। एक हिन्दू महात्मा ने कहा है, "सनातन वेदान्तधर्म मानवजाति के समक्ष दिव्यता के गर्भमन्दिर में पहुँचने के लिए अनन्त दरवाजे खोल देता है और आदर्शों का अक्षय भण्डार रख देता है। इनमें से प्रत्येक आदर्श में उसी शाश्वत सत्य की अभिव्यक्ति है। कल्याण-कामना से व्यग्र होकर वेदान्त जिज्ञासु नरनारियों को ऐसे अनेक रास्ते प्रदर्शित करता है जो महिमामय सपूतों या ईश्वर के मानवीय अवतारों द्वारा, अतीत में और वर्तमान में, मानवजीवन की कठोर चट्टानों पर खोदे गये हैं। वह अपनी भुजाएँ फैलाकर सत्य के उस निकेतन में, आनन्द के उस पारावार में सबका स्वागत करता है, उन सबका भी जो भविष्य में इस धरातल पर आयेंगे,

जिससे मनुष्य की आत्मा मायाजाल से मुक्त होकर पूर्ण स्वातंत्र्य और शाश्वत आनन्द में क्रीड़ा कर सके ।"

धर्म मानवजीवन का परम प्रयोजन है । पर धर्म का क्या अर्थ है ?– चरम सत्य की खोज । चरम सत्य किसे कहते हैं ? विश्व के प्राचीनतम साहित्य उपनिषदों में उसकी परिभाषा देते हुए कहा गया है– "नित्योऽनित्यानां चेतनश्चेतनानाम् – वह अनित्यों में नित्य है, जीवन के क्षणभंगुर सुखों में वह उच्चतम अक्षय आनन्द है।" उसे ईश्वर कहो या क्राइस्ट, ब्रह्म कहो या अल्लाह, इससे क्या अन्तर पड़ता है ? वह एक ही सत्य है । उसमें हम सब एक हैं । हिन्दुओं और बौद्धों ने इस आदर्श को सामने रखा है कि ईश्वर का साक्षात्कार और उसकी अनुभूति ही धर्म है । तुम ईश्वर में विश्वास कर सकते हो और दूसरा व्यक्ति ईश्वर में अविश्वासी हो सकता है । उससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। जब तक तुम ईश्वर को नहीं देख लेते, उससे बातचीत नहीं करते, उससे अपने एकत्व की अनुभूति नहीं कर लेते, तब तक तुम्हारा विश्वास बेबुनियाद है । प्रत्येक धर्म, प्रत्येक शास्त्र ईश्वरीय ज्ञान पर आधारित है– चाहे वह वेद हो, बाइबिल हो या कुरान, ज़ेन्द-अवेस्ता हो या त्रिपिटक । यह ईश्वरीय ज्ञान क्या है ? –ईश्वर का अपरोक्ष दर्शन ।

हिन्दू चार वेदों को ईश्वर-निःश्वसित मानते हैं, उसी प्रकार ईसाई बाइबिल को । पर हिन्दू अपने इस विश्वास को भिन्न रूप देते हैं । वे कहते हैं कि वेद

अनादि और अनन्त हैं। वे वेद का तात्पर्य मात्र चार पुस्तकें नहीं करते; उनका कहना है कि ईश्वर का सत्य शाश्वत है, अतः जब भी और जहाँ भी एवंविध ईश्वर का निःश्वास है उसे वे वेद कहते हैं। अतएव ईसा ने जो प्राप्त किया, बुद्ध ने जो पाया, वह ईश्वरीय ज्ञान है और हिन्दू इसे सहर्ष स्वीकार करता है। सबसे महत्त्वपूर्ण तो यह है कि हमारे सभी ऋषि-मुनि, हमारे आध्यात्मिक उपदेशक एक ही बात कहते हैं; वह यह कि जब तक तुम ईश्वर के सत्य को अपने तईं अनुभव नहीं कर लेते तब तक तुम्हारी स्थिति धर्म में नहीं है। शास्त्रों में प्रतिपादित सत्य की मात्र बौद्धिक स्वीकृति पर्याप्त नहीं है। तुम्हें उसकी अपरोक्ष अनुभूति कर लेनी चाहिये। वेदों में एक महान् ऋषि कह उठते हैं—"वेदाहमेत पुरुषं महान्तम् आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्"— मैंने उस महान् पुरुष को, महान् सत्य को जान लिया है जो अज्ञान-अन्धकार से परे है। वे पुनः कहते हैं, "तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति"—तुम भी उस सत्य को जानकर अमर आनन्द के अधिकारी बन जाओ।

यदि आप विश्व के धर्मों का इतिहास पढ़ें तो देखेंगे कि वैदिक काल से लेकर अनेकानेक ऋषियों और महात्माओं ने, कृष्ण, बुद्ध, ईसा, रामकृष्ण इन ईश्वर के महान् अवतारों ने अपने अपने युग में ईश्वर की अनुभूति की थी और उन्होंने इस पर बल दिया था

कि प्रत्येक मनुष्य को यह अनुभूति होनी चाहिए। बुद्ध ने कहा, "सत्य का अनुभव प्राप्त करने के लिए उस पर प्रयोग करो।" ईसा ने कहा, "तुम सत्य को जान लोगे और सत्य तुम्हें बन्धनमुक्त कर देगा।" मुहम्मद ने निम्नलिखित सुन्दर दृष्टान्त दिया–"जो शास्त्रों में तो पण्डित है पर जिसे ईश्वर के दर्शन नहीं हुए, वह किताबों का गट्ठा लादकर ले जानेवाले गधे के समान है।" अतएव, प्रत्येक धर्म में सत्य की कसौटी अपरोक्षानुभूति है। हम देखते हैं कि हिन्दू, ईसाई, बौद्ध, इस्लाम और यहूदी इन सभी धर्मों ने ऐसे सन्त-महात्माओं को जन्म दिया है जो ईश्वर के साथ साथ चले, उनसे वार्तालाप किया और उनसे अपने एकत्व की अनुभूति कर ली। हर युग में ऐसे ईश्वरद्रष्टा महापुरुष हुआ करते हैं।

स्वामी विवेकानन्द कहते हैं, "ईश्वर सभी धर्मों के केन्द्र हैं और इनमें से प्रत्येक एक एक त्रिज्या के सहारे उनकी ओर आगे बढ़ रहा है। हम सभी को उसी एक केन्द्र पर पहुँच जाना चाहिए जहाँ सारी त्रिज्याएँ जाकर मिल जाती हैं। तब हमारे सारे विभेद दूर हो जायेंगे।"

श्रीरामकृष्ण ने इस सत्य को अपने स्वयं के जीवन में प्रदर्शित किया। विभिन्न धर्मों के प्रति उनका दृष्टिकोण विलक्षण था। उन्होंने प्रत्यक्ष आत्मिक अनुभूति पर जोर देते हुए ईश्वर सम्बन्धी परस्पर-विरोधी

धारणाओं में समन्वय स्थापित किया। उनकी प्रणाली प्रयोगात्मक थी, क्योंकि वे किसी भी पथ को तब तक मान्यता नहीं देते थे जब तक कि वे स्वयं उस पर से होकर उसकी उपयोगिता को न जान लेते थे। सरलता और निष्ठापूर्वक उन्होंने बहु शाखाओं में विभक्त हिन्दू धर्म की प्रत्येक शाखा की प्रणाली और उपदेशों को स्वीकार किया और उन्हें प्रयोग के निकष पर कसा। अन्ततोगत्वा उन्होंने अनुभव किया कि वे सारे रास्ते उसी दिव्यानुभूति को प्राप्त करा देते हैं। पर इतने से ही वे सन्तुष्ट नहीं हुए। इस्लाम भारत में सक्रिय था और ईसाई धर्म भी वहाँ पर्याप्त विस्तार को प्राप्त कर चुका था। अतएव उन्होंने इन दोनों धर्मों की भी साधनाएँ कीं और फलस्वरूप प्राचीन ऋषियों की उक्ति को कि "एकं सत् विप्राः बहुधा वदन्ति -- सत्य एक है, विप्रजन उसे कई नामों से पुकारते हैं", अपने जीवन में सिद्ध कर दिया। उनके अपने शब्दों में— "जितने मत उतने पथ!"

पुनः श्रीरामकृष्ण के शब्दों को उद्धृत करूँ— "मैंने हिन्दू, इस्लाम और ईसाई धर्मों की साधनाएँ की हैं और हिन्दू धर्म के विभिन्न मत-मतान्तरों में से होकर गया हूँ। मैंने देखा कि सभी लोग भिन्न भिन्न रास्तों से उस एक ईश्वर की ही ओर कदम बढ़ा रहे हैं।

"तालाब के कई घाट हैं। एक स्थान पर हिन्दू भरता है और कहता है 'जल'। दूसरे स्थान पर मुसलमान

भरता है और कहता है 'पानी'। तीसरे स्थान पर ईसाई भरता है और कहता है 'वाटर'। वस्तु एक ही है, भले नाम विभिन्न हों; हर व्यक्ति उसी एक वस्तु की चाह कर रहा है। संसार का हर धर्म मानो एक घाट है। लगन और सचाई पूर्वक किसी भी घाट पर जाओ, वह तुम्हें शाश्वत आनन्द के जल तक पहुँचा देगा। पर ऐसा न कहो कि तुम्हारा धर्म दूसरे के धर्म से श्रेष्ठ है।"

अपनी चर्चा के प्रारम्भ में मैंने कहा था कि प्रत्येक मानव के हृदय में धार्मिक उफान पैदा हो। दूसरे शब्दों में, ईश्वर को पाने के लिए तुम्हारे भीतर असन्तोष जनमे। "खोजो और तुम्हें मिलेगा। दस्तक दो और वह तुम्हारे लिए खुल जायगा।" ईश्वर के लिए चाह, ईश्वर के सत्य को जानने की अभीप्सा— यही उनको पाने की एकमात्र शर्त है। जब कभी किसी ने श्रीरामकृष्ण से ईश्वर को पाने का उपाय पूछा तो उन्होंने कहा, "उनके लिए विकल होकर रोओ। तुम्हें वे अवश्य मिलेंगे।"

और वे हैं कहाँ? "क्या तुम नहीं जानते कि तुम ईश्वर के मन्दिर हो और उनकी आत्मा तुममें निवास करती है?" अपने हृदय को छोड़कर उन्हें तुम और कहाँ खोजोगे? क्या गिरजाघरों में, या मन्दिरों में, या पोथियों में? जब तक ईश्वर तुम्हें अपने ही भीतर नहीं मिलते तब तक उन्हें तुम अन्यत्र कहीं नहीं पा सकते। एक समय जब मैं ईश्वर को पाने के लिए बेचैन था और

उन्हें पाने की आशा से किसी तीर्थस्थान को जाना चाहता था, तो मेरे गुरुदेव स्वामी ब्रह्मानन्दजी ने मुझसे कहा, "उन्हें पहले यहाँ (हृदय की ओर संकेत करके) पाओ, तो फिर उन्हें सभी जगह पा सकोगे। यदि तुम उन्हें यहाँ न पा सको, तो वे तुम्हें कहीं नहीं मिलेंगे।"

और जब हम ईश्वर को पा लेंगे, उनके दर्शन कर लेंगे तो स्वामी विवेकानन्दजी के स्वर में स्वर मिलाकर कह सकेंगे-- "ग्रहण (acceptance) ही हमारा मूल-मंत्र होना चाहिए --- वर्जन नहीं। केवल परधर्म-सहिष्णुता (toleration) नहीं, क्योंकि तथाकथित सहिष्णुता प्राय: ईश-निन्दा होती है, इसलिए मैं उस पर विश्वास नहीं करता। मैं ग्रहण में विश्वास करता हूँ। मैं क्यों परधर्मसहिष्णु होने लगा! परधर्म-सहिष्णु कहने से मैं यह समझता हूँ कि कोई धर्म अन्याय कर रहा है और मैं कृपापूर्वक उसे जीने की आज्ञा दे रहा हूँ। तुम जैसा या मुझ जैसा कोई आदमी किसी को कृपापूर्वक जीवित रख सकता है, यह समझना क्या भगवान् के प्रति निन्दा नहीं है? अतीत के धर्मसम्प्रदायों को सत्य कह-कर ग्रहण करके मैं उन सबके साथ ही आराधना करूँगा। प्रत्येक सम्प्रदाय जिस भाव से ईश्वर की आराधना करता है, मैं उनमें से प्रत्येक के साथ ठीक उसी भाव से आराधना करूँगा। मैं मुसलमानों के साथ मस्जिद में जाऊँगा, ईसाइयों के साथ गिरजे में जाकर क्रूसित ईसा के सामने घुटने टेकूँगा, बौद्धों के मन्दिर में प्रवेश कर

बुद्ध और संघ की शरण लूँगा और अरण्य में जाकर हिन्दुओं के पास बैठ ध्यान में निमग्न हो, उनकी भाँति सबके हृदय को उद्भासित करनेवाली ज्योति के दर्शन करने में सचेष्ट होऊँगा।

"केवल इतना ही नहीं, जो पीछे आयेंगे, उनके लिए भी मैं अपना हृदय उन्मुक्त रखूँगा। क्या ईश्वर की पुस्तक समाप्त हो गयी ?– अथवा अभी भी वह क्रमशः प्रकाशित हो रही है ? संसार की यह आध्यात्मिक अनुभूति एक अद्भुत पुस्तक है। बाइबिल, वेद, कुरान तथा अन्यान्य धर्मग्रन्थसमूह मानो उसी पुस्तक के एक एक पृष्ठ हैं और उसके असंख्य पृष्ठ अभी भी अप्रकाशित हैं। मेरा हृदय उन सबके लिए उन्मुक्त रहेगा। हम वर्तमान में तो हैं ही, किन्तु अनन्त भविष्य की भावराशि ग्रहण करने के लिए भी हमको प्रस्तुत रहना पड़ेगा। अतीत में जो कुछ भी हुआ है, वह सब हम ग्रहण करेंगे, वर्तमान ज्ञान-ज्योति का उपभोग करेंगे और भविष्य में जो उपस्थित होंगे, उन्हें ग्रहण करने के लिए हृदय के सब दरवाजों को उन्मुक्त रखेंगे। अतीत के ऋषिकुल को प्रणाम, वर्तमान के महापुरुषों को प्रणाम, और जो जो भविष्य में आयेंगे, उन सबको प्रणाम !"

अन्त में, मेरा इस बात पर बल देना स्वाभाविक ही होगा कि भारत युगों से भिन्न भिन्न धर्मसम्प्रदायों को एकता की डोर में गूँथने के लिए प्रयत्नशील रहा है। उसने केवल हिन्दू धर्म के ही अन्तर्गत विभिन्न मत-

मतान्तरों को जोड़ने का प्रयास नहीं किया, बल्कि जब इस्लाम और ईसाई धर्म सामने आये, तव इन सबके वीच भी शान्ति स्थापित करने का कार्य करता रहा है। अपने इसी कार्य को अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर व्यापक बनाकर कदाचित् वह मानवजाति के आध्यात्मिक कल्याण की स्थापना के लिए यथाशक्ति प्रयत्न कर रहा है। मानव-समाज में भयावह रूप से व्याप्त बुराइयों के विरोध में संसार के महान् धर्मों को एक स्थान पर लाकर खड़ा करना निस्सन्देह एक विराट् कार्य है, पर इसी एक कार्य के लिए भारत विशेष रूप से योग्य है; क्योंकि एकत्व का स्थापन वह सबको किसी विशेष सिद्धान्त को मानने के लिए वाध्य करके नहीं करना चाहता, पर वह एक समान लक्ष्य की ओर इंगित करता है और मनुष्यों को उसकी प्राप्ति के लिए प्रेरित करता है। वह विश्वासपूर्वक कहता है कि पथ गौण हैं; वास्तव में लक्ष्य ही प्रमुख है। वह लक्ष्य क्या है ?—— फिर से कहूँ, वह है ईश्वर की अनुभूति कर लेना।

•

नेकी से विमुख हो जाना और बदी करना निस्सन्देह बुरा है, मगर सामने हँसकर बोलना और पीठ-पीछे चुगलखोरी करना उससे भी बुरा है।

—संत तिरुवल्लुवर

स्वामी विवेकानन्द का विनोद

ब्रह्मचारी अमिताभ

श्रीरामकृष्णदेव ने कालीमाता से निवेदन किया था, "माँ ! मुझे नीरस साधु मत बनाना। मुझे सरस साधु ही बनाना।" स्वामी विवेकानन्द भी सरस साधु थे। वे बचपन से ही विनोदप्रिय थे। कहा करते थे, "मैं साधु हूँ तो क्या मैं अपने हृदय को भी उखाड़कर फेंक दूँ ? यों तो संन्यास मनुष्य को पाषाण बना देता है, पर ऐसा संन्यास मुझे पसन्द नहीं है।" स्वामीजी महान् प्रतिभाशाली थे और वे अपनी बातचीत, साहित्य और भाषण में व्यंग्य का पर्याप्त प्रयोग करते थे।

बचपन में स्वामीजी बहुत से चुटकुले कहा करते थे। उन्हें निम्नलिखित कहानी बहुत अच्छी लगती थी। किसी बुढ़िया के पास एक बकरी थी। एक ठग ने एक दिन उसकी बकरी चुरा ली और उसके पास जाकर बोला, "तुम्हारी बकरी आज अदालत में काजी बन गई है।" बुढ़िया बहुत सरल थी। उसने ठग की बात पर विश्वास कर लिया। वह अदालत गई। उसने देखा कि वहाँ जो काजी के रूप में काम कर रहा है उसके मुँह में भी बकरी के समान दाढ़ी है। यह देखकर बुढ़िया हाथ में रस्सी लेकर काजी के पास पहुँची और कहने लगी, "आ जा रे मेरी बकरी।" यह सुनकर काजी बहुत बिगड़ गया और पुलिस से बोला, "इस बुढ़िया को पकड़ लो।" काजी की बात सुनकर बुढ़िया को भी गुस्सा आ गया

और वह बोली, "क्या तुझे अपने पूर्व जन्म की बात याद नहीं है ? तू मेरी बकरी था। मैंने बड़े यत्न से तेरा पालन किया और तू सब भूल गया ?" अदालत में कुछ लोग उस बुढ़िया को पहचानते थे। उन्होंने उससे पूछा कि आखिर बात क्या है। बुढ़िया का किस्सा सुनने पर सब हँसने लगे। अन्त में चोर को पकड़कर थाने भेज दिया गया।

स्वामीजी जब श्रीरामकृष्ण के पास जाने लगे तब वहाँ अनेक लोगों से उनकी पहचान हुई। स्वामीजी ने मजाक में सब लोगों को एक-एक मजेदार नाम दे दिया था। हरिमोहन को उन्होंने 'हारमोनियम' कहा, गंगाधर को 'गैंजेज़' और हरिप्रसन्न को 'इलाहाबाद का बिशप'। बाबूराम बड़े भक्त थे। ईश्वर का नाम सुनते ही उनकी आँखों से आँसू बहने लगते थे। स्वामीजी ने उन्हें नाम दिया 'भेंपू'। किशोरीमोहन दाढ़ी रखते थे और बहुत अच्छी उर्दू बोलते थे। वे बन गये 'अब्दुल'। यज्ञेश्वर भट्टाचार्य की भी दाढ़ी थी और उन्हें 'फकीर' भी कहते थे। स्वामीजी ने उनका नाम बनाया 'फकरुद्दीन हयदार'। अमेरिका में भी स्वामीजी ने अनेक आदमियों को मजेदार नाम प्रदान किया था। जार्ज हेल और उनकी पत्नी बड़े भक्त थे। स्वामीजी ने उन दोनों को 'फादर पोप' और 'मदर चर्च' बना दिया। गुडविन 'बैडविन' बन गये। सिंगरवेल मुदलियार स्वल्पाहारी थे। उनका नाम 'किडी' हो गया। तमिल भाषा में

'क्रिडो' का अर्थ होता है 'पंछी'। जापानी पंडित ओका-कुरा को उन्होंने 'अक्रूर खुड़ा' कहा। (खुड़ा यानी काका)

गाजीपुर में एक आदमी रहता था जिसे सब लोग ठाकुर दा कहते थे। गाँजा, गोली और भाँग में तो वह सिद्धपुरुष था। उसकी धारणा थी कि रोना ही धर्म का लक्षण है। स्वामीजी ने एक दिन उससे कहा, "आओ ठाकुर दा, आज मैं तुम्हें वेद सुनाऊँगा।" ठाकुर दा बड़े आनन्द से वेद सुनने बैठे। स्वामीजी ने मजाक में कहा, "वेद का प्रथम स्तोत्र है— 'कस्मिंश्चित् वने भासुरको नाम सिंहः प्रतिवसतिस्म'।" ठाकुर दा को पता नहीं था कि यह वाक्य हितोपदेश का है और उसका अर्थ है– 'किसी वन में भासुरक नामक सिंह रहता था।' उन्होंने तो इसे वेदमंत्र समझ लिया और सुनते ही रोना शुरू कर दिया। स्वामीजी भी इसकी व्याख्या करते हुए कहने लगे, "अहा, क्या पदलालित्य है! कैसा शब्द-विन्यास है!! कितना भावपूर्ण श्लोक है!!!" इस प्रकार स्वामीजी वेद-पाठ कर रहे थे और ठाकुर दा जमीन पर सोकर रो रहे थे। इसी बीच जब शिरीषचन्द्र कमरे में घुसे तो स्वामीजी ने उनसे कहा, "अभी तुम भागो। मैं ठाकुर दा को वेद सुना रहा हूँ।" शिरीष तुरन्त दूसरे कमरे में पहुँचकर जोरों से हँसने लगे।

जयपुर में सूर्यनारायण एक बार स्वामीजी से बोले, "मेरा अवतार में कुछ भी विश्वास नहीं है। मैं भी एक अवतार हूँ। क्या आप प्रमाणित कर सकते हैं कि मैं

अवतार नहीं हूँ?" स्वामीजी ने हँसते-हँसते उत्तर दिया, "नहीं भाई; हिन्दू शास्त्र में तो सूअर, मछली और कछुए को भी अवतार माना गया है। आप बताइये कि आप इनमें से कौन सा अवतार हैं?"

बंगाल के प्रख्यात नाट्यविद और अभिनेता गिरीशचन्द्र घोष श्रीरामकृष्णदेव के शिष्य थे। उनका लिखा नाटक 'बुद्धदेव चरित' बहुत जनप्रिय हुआ। एक दिन स्वामीजी उस नाटक को देखने गये। नाटक समाप्त होने के बाद स्वामीजी गिरीश बाबू के कमरे में बैठ। वहाँ और लोग भी थे। जिस अभिनेता ने नायक की भूमिका की थी वह भी वहाँ मौजूद थे। इसके अतिरिक्त एक ऐसा विद्याविलासी व्यक्ति भी था जो सदैव अपनी विद्या की धाक जमाने का अवसर देखा करता था। उस गर्वीले आदमी ने गिरीश बाबू से पूछा, "क्या बुद्धदेव नास्तिक थे?" गिरीश बाबू ने उससे कहा, "स्वामीजी से पूछिये।" उसने जब स्वामीजी से पूछा तो उन्होंने उत्तर दिया, "यहाँ तो बुद्धदेव स्वयं हाजिर हैं। उनसे ही पूछिये।"

परिव्रजन करते हुए जब स्वामीजी राजस्थान पहुँचे तब एक राजपूत मुसलमान उनके पास आकर बोला, "स्वामीजी, राजस्थान में सभी आदमी कहते हैं कि वे बहुत ऊँचे वंश के हैं। कोई अपने को सूर्यवंश का बताता है तो कोई चन्द्रवंश का। क्या आप बता सकते हैं कि मैं किस वंश का हूँ?" स्वामीजी ने उत्तर दिया, "देखो

भैया, सूर्यवंश और चन्द्रवंश तो पुराना पड़ गया है। तुम एक नया शुरू करो। आज से तुम तारा वंश के हो जाओ।" खान साहब यह सुनकर बड़े प्रसन्न हुए और बड़े गौरव से सबको अपना वंश बताने लगे।

परिव्राजक-अवस्था में स्वामीजी ने अच्छी तरह से देश की हालत देखी-समझी थी। उन्होंने देखा था कि सभी लोग छुआछूत और जातपाँत आदि को ही धर्म मानते हैं। यह देखकर उनका हृदय बड़ा दुःखी था। पर कभी-कभी वे इसे लेकर मजाक भी किया करते थे। उन्हें 'अहिंसा परमो धर्मः' नामक कहानी बड़ी पसन्द थी। इसे सुनाते हुए वे कहते थे कि किसी मकान का नाम था 'अहिंसा परमो धर्मः'। एक दिन एक चोर उस मकान में घुसा पर वह पकड़ा गया। बहुत से आदमियों ने मिलकर उसे बहुत पीटा। इतने में मकान-मालिक आकर बोला, "अरे भाई, उसे मत मारो। अहिंसा परमो धर्मः।" अन्य लोगों ने उससे पूछा– "तो इस चोर का क्या करें ?" मालिक ने उत्तर दिया–"अहिंसा परमो धर्मः। रक्तपात करना बहुत खराब है। उसको मारने से रक्तपात हो जाएगा। इसलिये इस चोर को एक टोकने में बाँधकर नदी में फेंक दो।"

लोकाचार के बाह्याडम्बर को देखकर स्वामीजी ने लिखा है– "सनातन हिन्दू धर्म का गगनचुम्बी मन्दिर है। उस मन्दिर के अन्दर जाने के न जाने कितने मार्ग हैं ! और वहाँ क्या नहीं है ? वेदान्ती के निर्गुण ब्रह्म से लेकर

ब्रह्मा, विष्णु, शिव, शक्ति, चूहे पर सवार गणेशजी, छोटे देवतागण जैसे षष्ठी, माकाल इत्यादि, और भी न जाने क्या क्या वहाँ मौजूद हैं। फिर वेद, वेदान्त, दर्शन, पुराण एवं तंत्र में ऐसी वहुत सी सामग्री है जिसकी एक-एक बात से भवबन्धन टूट जाता है। और लोगों की भीड़ का तो कहना ही क्या! तैंतोस करोड़ लोग उस ओर दौड़ रहे हैं! मुझे भी उत्सुकता हुई और मैं भी दौड़ने लगा। किन्तु यह क्या! मैं तो जाकर एक अद्-भुत काण्ड देखता हूँ। कोई भी व्यक्ति मन्दिर के अन्दर नहीं जा रहा है। दरवाजे के पास एक पचास सिरवाली, सौ हाथवाली, दो सौ पेटवाली और पाँच सौ पैरवाली मूर्ति खड़ी है। उसी के पैरों के नीचे सब लोट-पोट हो रहे हैं। एक व्यक्ति से इसका कारण पूछने पर उत्तर मिला, "भीतर जितने देवता हैं, उन्हें दूर से प्रणाम कर लेने अथवा दो फूल डाल देने से ही उनकी यथेष्ट पूजा हो जाती है। असली पूजा तो इनकी होनी चाहिये जो दरवाजे पर विद्यमान हैं। जो वेद, वेदान्त, दर्शन, पुराण और शास्त्र तुम देख रहे हो उन्हें कभी-कभार सुन लो तो भी हानि नहीं। पर इनका हुक्म तो मानना ही पड़ेगा।" तब मैंने फिर पूछा, "इन देवताजी का भला क्या नाम है?" उत्तर मिला– इनका नाम 'लोकाचार' है!"

मद्रासी ब्राह्मणों का चन्दन-तिलक देखकर एक बार स्वामीजी ने कहा, "दूर से देखने पर ऐसा लगता है कि

खेत में कौआ भगानेवाला मटका खड़ा है।" "बंगाल के वैष्णव लोगों के तिलक को देखकर चीते-वाघ भी डरते हैं। रामानन्द सम्प्रदाय का अपने तिलक पर इतना विश्वास है कि---

तिलक तिलक सब कोइ कहैं, पर रामानन्दी तिलक।
दिखत गंगापार से यम गौ द्वार के खिड़क।।"

बंगाल के साहित्यिकों के नारीसुलभ आचार-व्यवहार को देखकर स्वामीजी ने लिखा है, "यह एक दल देश में उमड़ रहा है जिसके लोग औरतों की तरह पहनते-ओढ़ते, नजाकत-भरी बोली छाँटते, तिरछी-तिरछी चाल से चलते हैं। ये किसी की आँख पर आँख रखकर नहीं बोल सकते। ये पैदा होने के दिन से ही प्रेम की कविताएँ लिखते हैं और जुदाई की आग में 'हसन-हुसैन' किया करते हैं।"

स्वामीजी अपने सम्बन्ध में भी मजाक किया करते थे। उन्होंने एक बार कहा, "जब मेरी तबीयत अच्छी रहती है तब तो मैं सोचता हूँ कि 'अहं ब्रह्मास्मि'। पर जब मेरे पेट में दर्द होता है तब 'माँ' कहकर प्रार्थना करता हूँ।"

परिव्रजन के बाद स्वामीजी अमेरिका गये। वहाँ उन्होंने देखा कि लोग धर्म को अच्छी तरह से नहीं समझते और कट्टर भी बहुत हैं। वहाँ स्वामीजी ने एक मजेदार कहानी कही। एक किसान चर्च में गया। वहाँ जाकर उसने सुना कि यहूदी लोगों ने यीशु को क्रूसविद्ध

किया था। यह सुनकर वह बहुत बिगड़ा। चर्च से बाहर निकलने पर जब उसने एक यहूदी को देखा तो उसे पकड़कर मारना शुरू कर दिया। किसान को नयी धर्म-प्रेरणा मिली थी इसलिये यहूदी बहुत पिटा। यहूदी ने पूछा, "अरे भाई, क्यों मारते हो ?" किसान ने जवाब दिया, "तुमने प्रभु यीशु को क्यों क्रूसविद्ध किया था ?" यहूदी ने समझाया, "अरे, वह तो १९०० साल पुरानी कहानी है।" किसान ने पलटकर कहा, "तो इससे क्या होता है ? मैंने तो आज ही यह बात सुनी है।"

स्वामीजी एक अन्य कहानी भी सुनाते थे। एक जहाज समुद्र में चलते-चलते खतरे में पड़ गया। आकाश में बादल छा गये और तूफान शुरू हो गया। सब यात्री मिलकर जहाज के पादरी के पास गये और बोले, "फादर, बहुत विपदा है। कुछ धर्म की बातें सुनाइये।" यह सुनते ही पादरी ने अपना टोप उतार लिया और चंदा इकट्ठा करना शुरू कर दिया। उनका धर्मतत्त्व चंदा उगाहने में ही निहित था !

अमेरिका में स्वामीजी अपने गुरुभाइयों के बारे में बहुत मजाक करते थे। वे कहते थे, "शरत् जब अंग्रेजी में लेक्चर देता है तो ऐसा लगता है कि वह चण्डीपाठ कर रहा हो।" वे अपनी नाक पर उँगली रखकर कहते थे, "गंगाधर की नाक इतनी लम्बी है।"

डाक्टर विट स्वामीजी के बड़े भक्त थे। एक बार उन्होंने पूछा, "स्वामीजी, क्या मैं भी ब्रह्म हूँ ?"

स्वामीजी ने कहा, "जरूर।" एक दिन जब सब लोग खाने की मेज पर बैठे थे तो डाक्टर विट को थोड़ी देर हो गयी। वे जब वहाँ पहुँचे तो स्वामीजी ऊँचे स्वर में बोले, "आप लोग सावधान हो जाइए, ब्रह्म आ रहे हैं।" सब लोग ठहाका मारकर हँस पड़े।

अन्त में स्वामीजी की लिखी हुई एक कहानी सुनाऊँ–

"लखनऊ शहर में मुहर्रम की बड़ी धूम है। बड़ी मस्जिद–– इमामबाड़े में चमक-दमक और रोशनी की बहार का कहना ही क्या! बेशुमार लोग आ जा रहे हैं। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, यहूदी आदि अनेक जाति के स्त्री-पुरुषों की भीड़ की भीड़ आज मुहर्रम देखने को एकत्र हुई है। लखनऊ शिया लोगों की राजधानी है, आज हज़रत इमाम हसन-हुसैन के नाम का आर्तनाद आकाश तक में गूँज रहा है–– वह हृदय दहलानेवाला मरसिया, उसके साथ फूट-फूटकर रोना किसके हृदय को द्रवित न कर देगा? सहस्र वर्ष की प्राचीन करबला की कथा आज फिर जीवन्त हो उठी है। इन दर्शकों की भीड़ में दूर गाँव से दो भद्र राजपूत तमाशा देखने आये हैं। ठाकुर साहब—जैसा कि प्रायः गवैंहे जमींदार लोग हुआ करते हैं–– निरक्षर भट्ट हैं। लखनऊ की इस्लामी सभ्यता, शीन-काफ़ का शुद्ध आचरण, शाइस्ता जुबान, ढीली शेरवानी, चुस्त पायजामा और पगड़ी, रंग-बिरंगे कपड़े का लिबास– ये सब आज भी दूर गाँवों में प्रवेश कर वहाँ के ठाकुर साहबों को स्पर्श नहीं कर पाये हैं।

अतः ठाकुर लोग सरल और सीधे हैं और हमेशा जवाँ-मर्द, चुस्त, मुस्तैद और मजबूत दिलवालों को ही पसन्द करते हैं।

"दोनों ठाकुर साहब फाटक पार करके मस्जिद के अन्दर प्रवेश करने ही वाले थे कि सिपाही ने उन्हें अन्दर जाने से मना किया। जब उन्होंने इसका कारण पूछा, तो सिपाही ने उत्तर दिया, 'यह जो दरवाजे के पास मूरत खड़ी देख रहे हो उसे पहले पाँच ज़ूते मारो, तभी भीतर जा सकोगे।' उन्होंने पूछा, 'यह मूर्ति किसकी है?' उत्तर मिला, 'यह महापापी येज़िद की मूरत है। उसने एक हजार साल पहले हजरत हसन-हुसैन को कत्ल किया था, इसीलिए आज यह रोना और अफसोस जाहिर किया जा रहा है।' सिपाही ने सोचा इस लम्बी व्याख्या को सुनकर वे लोग पाँच जूते क्या दस जूते मारेंगे। किन्तु कर्म की गति विचित्र है, राम ने उल्टा समझा! दोनों ठाकुरों ने गले में दुपट्टा लपेटकर अपने को उस मूर्ति के चरणों पर डाल दिया और लोट-पोटकर गद्‌गद स्वर से स्तुति करने लगे, 'अन्दर जाने का अव क्या काम है, दूसरे देवता को अब और क्या देखेंगे? शाबास! बेटा येज़िद, देवता तो तू ही है! सारे क्रा अस मारेउ कि ई सव सार अवहिन तक रोवत हैं!' "

●

शक्तितत्त्व

स्वामी सत्यकामानन्द

या देवी सर्वभूतेषु शक्तिरूपेण संस्थिता ।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः ॥

—जो देवी सर्व भूतों में शक्ति के रूप से विराजमान है उसे बारम्बार नमस्कार !

या देवी सर्वभूतेषु मातृरूपेण संस्थिता ।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः ॥

—जो देवी सर्व भूतों में माता के रूप से विराजमान है उसे बारम्बार नमस्कार !

वेद, पुराण और तंत्र मिलकर हिन्दुओं के विपुल धर्मशास्त्र का निर्माण करते हैं । जैसे उपनिषद् वेदों का सार है, उसी प्रकार चण्डी, जो मार्कण्डेय पुराण के अन्तर्गत आती है, तंत्रों का सार है । चण्डी में सात सौ श्लोक हैं इसलिए उसे सप्तशती भी कहते हैं । चण्डी के श्लोक महामाया से सम्बन्धित हैं ।

चण्डी में राजा सुरथ मेधस् ऋषि से विनम्रता और श्रद्धा के साथ प्रश्न पूछते हैं, " मुनिवर! महामाया क्या है ? उसका स्वरूप कैसा है ? उसकी उत्पत्ति कैसे हुई और उसका कार्यक्षेत्र कौनसा है ?" इन प्रश्नों का उत्तर हमें ऋषि की वाणी में तथा ब्रह्मा द्वारा महामाया अथवा भगवती की की गयी प्रशंसा में प्राप्त होता है । ब्रह्मा स्तुति करते हुए कहते हैं, " महामाये, तुम्हीं से यह जगत् निकला है, तुम्हीं इसका सृजन

करती हो और तुम्हीं इसका पालन करती हो। हे देवि! फिर तुम्हीं इसको लीन भी कर लेती हो।" उपनिषद् भी ऐसी ही घोषणा करते हैं– "ब्रह्म से ही यह सब उपजा है, ब्रह्म में ही यह सब रहता है और अन्त में ब्रह्म में ही सब लीन हो जाता है।"

एक प्रश्न पूछा जा सकता है। वह यह कि तंत्रों की महामाया तथा वेदों के ब्रह्म में परस्पर क्या सम्वन्ध है? क्या ये दोनों एक और अभिन्न हैं, क्या केवल नाम का ही भेद है? वर्तमान युग के महान् समन्वयाचार्य श्रीरामकृष्ण ब्रह्म और शक्ति के इस सूक्ष्म सम्बन्ध पर अपूर्व प्रकाश डालते हैं। वे कहते हैं, "ब्रह्म (निराकार सत्य) और शक्ति (सगुण ईश्वर) में किसी प्रकार का भेद नहीं है। जब वह परमतत्त्व निष्क्रिय रहता है तो उसको शुद्ध ब्रह्म कहते हैं और जब वही क्रियावान् होकर सृजन, पालन और विनाश करता है तो उसी को शक्ति या सगुण ईश्वर कहते हैं।" अपनी बात को अधिक स्पष्ट करने के लिये वे अग्नि और उसकी दाहिकाशक्ति का, समुद्र और उसकी तरंगों का उदाहरण देते हैं।

भारत के आत्मदर्शी मनीषियों ने ब्रह्म और शक्ति को अभिन्न रूप से अनुभव किया है। कबीर एक दोहे में सुन्दर ढंग से अपना मन्तव्य प्रकट करते हैं–

निर्गुण है सो पिता हमारो सगुण कहूँ महतारी।
काको निन्दौं काको बन्दौं दोनों पलड़ा भारी॥

निराकार ब्रह्म मनुष्य की चिन्तना और कल्पना से परे है। विना प्रतिमा या प्रतीक के किसी प्रकार की पूजा नहीं हो सकती। मनुष्य अपनी मानसिक प्रवृत्तियों और धारणा के अनुरूप विभिन्न गुणों से युक्त प्रतीक या प्रतिमा की कल्पना करता है। जब हिन्दू किसी प्रतिमा या प्रतीक के सामने नैवेद्य अर्पित करता हुआ प्रार्थना करता है तो वास्तव में वह सीमित और सान्त के माध्यम से असीम और अनन्त की ही पूजा करता है। प्रतिमा और प्रतीक, चाहे कुछ समय के लिए हों या स्थायी रूप से, केवल लक्ष्य की प्राप्ति के साधन मात्र हैं। विश्व के सभी धर्मों में, प्रतिमा को स्थान भले न हो, पर प्रतीक को किसी न किसी रूप से अवश्य स्थान मिला है। यदि मनुष्य साध्य को छोड़कर केवल साधन को ही सर्वस्व मान लेता है तो फिर चाहे वह किसी भी धर्म का अनुयायी क्यों न हो, वह है मूर्तिपूजक ही। अभिनव भारत के हिन्दू को यह जान लेना चाहिये कि उसके धर्म का यथार्थ स्वरूप क्या है। उसे यह भी जान लेना चाहिये कि भीतर छिपे हुए ब्रह्मभाव का प्रकटन ही यथार्थ धर्म है। निहित ब्रह्मभाव की यह अभिव्यक्ति कर्म, भक्ति, मनःसंयम, अथवा ज्ञान के द्वारा, इनमें से एक या दो या सबके सम्मिलन के द्वारा, की जा सकती है। अनुष्ठान, प्रतीक, सिद्धान्त और मतवाद ये सब गौण बातें हैं। यदि इनके द्वारा मनुष्य के भीतर में निहित ब्रह्मभाव जाग्रत् न हो सके तो ये निरर्थक ही हैं।

संसार में जहाँ जितने हिन्दू हैं, विशेषकर अपनी मातृभूमि में रहने वाले हिन्दू वर्ष के सबसे बड़े त्यौहार की आतुर प्रतीक्षा कर रहे हैं। वह है शरद ऋतु में आनेवाला दुर्गापूजा का समारोह। इस राष्ट्रीय समारोह के पीछे एक लम्बा इतिहास है। हिन्दुओं का विश्वास है कि शक्तिपूजा सृष्टि के समान प्राचीन है, क्योंकि उसका प्रारम्भ स्वयं सृजनकर्ता ब्रह्मा ने एक संकट की सन्धि में किया था। श्रीराम, श्रीकृष्ण, युधिष्ठिर और अर्जुन का सम्बन्ध दुर्गापूजा से रहा है और इस कारण वह हिन्दू जाति की रग-रग में घुल-मिलकर व्याप्त हो गयी है। वर्ष में भिन्न भिन्न अवसरों पर उसी एक जगदम्बा की उपासना विभिन्न नाम-रूपों वाली प्रतिमाओं में की जाती है; जैसे, काली, जगद्धात्री, लक्ष्मी, सरस्वती इत्यादि। इन सबमें भगवती दुर्गा का स्थान सर्वोपरि है। वह मानो सभी देवियों और देवताओं का एकत्र विग्रह है।

दुर्गापूजा के समय जिस कलात्मक और भावव्यंजक प्रतिमा में देवी की उपासना की जाती है, वहाँ यह दर्शाया है कि महालक्ष्मी महिषासुर के साथ विकट सग्राम में व्यस्त है। इसका वर्णन हमें चण्डी के दूसरे अध्याय में प्राप्त होता है। देवी सभी देवताओं के सम्मिलित अंश से उत्पन्न हुई थी। देवताओं ने दुष्ट महिषासुर के पराभव के लिए देवी के प्रादुर्भाव की प्रार्थना की थी। शिव के अंश से उसका मुख बना,

विष्णु से उसकी भुजाएँ, ब्रह्मा से उसके पैर, और इसी प्रकार अन्य देवताओं से उसके दूसरे सब अंग बने। देवताओं द्वारा प्रदत्त विभिन्न आयुधों से वह देवी युक्त थी। माता का रूप कैसा गरिमामण्डित था ! वह महाशक्ति का मूर्त रूप थी ! ऋग्वेद के देवीसूक्त में हम इसी शक्ति को अम्भृण ऋषि की कन्या वाक् के माध्यम से बोलते हुए पाते हैं––

अहं रुद्राय धनुः आतनोमि, ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उ।
अहं जनाय समदं कृणोमि, अहं द्यावापृथिवी आ विवेश॥
मया सो अन्नमत्ति यो विपश्यति,
यः प्राणिति य ईं शृणोति उक्तम्।
यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तं ऋषिं तं सुमेधाम्॥

––मैं रुद्र के लिए धनुष खींचती हूँ; ब्रह्मद्वेषियों को शर से नष्ट करती हूँ; मनुष्यों के (कल्याण के) लिए युद्ध करती हूँ; मैं पृथ्वी और आकाश को व्याप्त करके स्थित हूँ। जो देखता है, जो प्राणन करता है, जो कही हुई बात सुनता है, वह अपना अन्न मेरे द्वारा प्राप्त करके खाता है। जिसे चाहती हूँ उसे समुन्नत करती हूँ, उसे ब्रह्मा का पद दे देती हूँ, ऋषि और मेधावी बना देती हूँ।

माता के स्नेह और आशीर्वाद के विना शिशु को संसार में रहने का भला कौन सा आकर्षण है? जब तक यह हम नहीं जान लेते कि हमारा प्राणन और जीवन उस जगन्माता के कारण ही हो रहा है, तब तक इस

ससार की दासता से नहीं मुक्त हो सकते। हम सदैव माता में स्थित हैं और वह जगदम्बा भी सदा-सर्वदा हममें स्थित है। इस सत्य के अनुभव की प्रक्रिया ही वास्तविक 'शक्तिपूजा' है। यह शक्तिपूजा डरपोक या कायर के लिए नहीं है। दुर्बलचेता व्यक्ति इसका अधिकारी नहीं। सुख और दुःख, आलोक और अन्धकार, सुयश और अपयश तथा जीवन और मृत्यु इन समस्त द्वन्द्वों में वही माता समान रूप से प्रकाशित होती है। स्वामी विवेकानन्द नाचे उस पर श्यामा' नामक अपने गीत में गाते हैं--

सुख के हेतु सभी हैं पागल, दुख पर किस पामर का प्यार।
सुख में है दुख, विष अमृत में, देखो बता रहा संसार ॥

जो शक्ति का सच्चा उपासक है उसे द्वन्द्वों का निर्विकार भाव से सामना करना चाहिए। उसे तो दुःखों और कष्टों को गले से लगाना चाहिए। तभी स्वामी विवेकानन्द ने अपने 'माँ काली' नामक एक अन्य गीत में गाया है--

साहसी जो चाहता है दुःख, मिल जाना मरण से।
नाश की गति नाचता है, माँ उसी के पास आयी ॥

शक्ति-उपासना का अपना अलग दर्शन है। शक्ति की कल्पना सबसे प्राचीन है। शक्ति-तत्त्व ऋग्वेद के देवीसूक्त पर प्रधान रूप से आधारित है। ऋग्वेद मानव-सभ्यता के सबसे प्रथम ग्रन्थ के रूप में पूजित है। देवीसूक्त में आठ मंत्र हैं जिनमें से कुछ का उद्धरण हमने ऊपर दिया है।

यह उल्लेखनीय है कि उपनिषदों में शक्ति-तत्त्व का विचार नहीं है। इसका कारण यह है कि अद्वैतवादी वेदान्तदर्शन सगुण ईश्वर की कल्पना को अधिक महत्त्व नहीं प्रदान करता। तो भी, केनोपनिषद् में हमें उमा हैमवती का सुन्दर आख्यान मिलता है। देवीसूक्त में जो भाव प्रकट हुआ है, लगभग वही इस कथा में भी प्राप्त होता है। याज्ञिक उपनिषद् में 'दुर्गा' नाम का उल्लेख है, जो सायणाचार्य के मत से भगवती दुर्गा का ही परिचायक है। मार्कण्डेय पुराण में जगन्माता के उस स्वरूप की विशेष चर्चा है जिसे उसने 'चण्डिका' का नाम दिया है। वहाँ पर शाक्ततत्त्वविद् की दृष्टि से चरम सत्य का विस्तार से विवेचन है।

वैदिक और तांत्रिक दोनों परम्पराओं में चरम सत्य के दो पहलू माने गये हैं– एक पुरुष और दूसरा प्रकृति। वैदिक परम्परा पुरुषात्मक पहलू पर अधिक जोर देती है जबकि तांत्रिक परम्परा नारी-आत्मक यानी प्रकृति-आत्मक पहलू पर। वैदान्तिक अनुभूति को जहाँ 'सोऽहं' शब्द व्यक्त करता है, वहीं तांत्रिक अनुभूति को 'साहं' प्रकट करता है। यथार्थ तो यह है कि उस परम सत्य में कोई लिंग नहीं है– वह तो सत्-चित्-आनन्द स्वरूप है।

शक्तितत्त्व के ये अमूर्त विचार इस महान् देश के अधिवासियों के विभिन्न अनुष्ठानों और समारोहों तथा कलाओं और जनगीतों में सुन्दर रूप से मूर्त हुए हैं। शक्ति की उपासना में बंगाल सभी प्रान्तों का अगुआ

है। इस क्षेत्र में उसकी अपनी मौलिकता है। बंगाली अपनी भावग्राहकता और कल्पना के सहारे जगन्माता को एक छोटी लड़की का रूप देता है। इस देश की प्राचीन परम्परा के अनुसार, इस कन्या का विवाह छोटी सी उम्र में भूतनाथ शिव के साथ हो गया है। शिव सुदूर कैलास में रहते हैं और वह बीच बीच में अपने स्नेही माता-पिता के घर आया करती है। पिता का स्थान बचपन की मधुर स्मृतियों से भरा है। माता मेनका और पिता हिमालय की यह सन्तान प्यार से 'गौरी' और 'उमा' इन दो नामों से सम्बोधित होती है। वह वर्ष में दो बार पिता के घर आती है। इनमें मे उसका शरद् ऋतु में घर आना बंगाल में वड़े ममारोह के रूप में मनाया जाता है। उसके आगमन की उत्सुक प्रतीक्षा सारे वातावरण में स्वर्गिक आनन्द घोल देती है। उस आनन्द के वारापार में दैनिक जीवन के दुःख और कष्ट कुछ समय के लिए तिरोहित हो जाते हैं। आबाल-वृद्ध-वनिता सभी 'आगमनी' गाकर माता का स्वागत करते हैं। और कैसे अपूर्व भावों से भरे होते हैं आगमनी के ये मनमोहक स्वर! फिर शीघ्र ही बिदाई का दिन आ जाता है। बिदाई के इन 'विजया' गीतों में मायके के लोगों के हृदय की विगलित करुणा मानो फूट-फूट पड़ती है।

विजया का पर्व सारे देश के लिए एकता, उत्थान और शान्ति का सन्देश लाता है। शक्ति की यह

उपासना अभिनव भारत की उगती हुई पीढ़ी को उज्ज्वलतर लक्ष्य की प्राप्ति के लिए नूतन उत्साह से भर दे, यही कामना है।

●

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

शरद्‌चन्द्र पेंढारकर

(१) तीन बहुमूल्य उपदेश

प्रजापति के तीन पुत्र थे– देव, मनुष्य और असुर। ब्रह्मचर्यपूर्वक निवास कर शिष्यभाव से देव प्रजापति से बोले, "भगवन्, हमें उपदेश दीजिये।" प्रजापति ने केवल 'द' कहा और चुप हो गये। फिर पूछा, "तुम क्या समझे ?" देव ने थोड़ी देर आत्मनिरीक्षण किया और बोले, "समझ गये भगवन्, आपने कहा है 'दाम्यत', अर्थात् इन्द्रियों का दमन करना।"

मनुष्य ने भी कहा, "भगवन्, हमें भी उपदेश दें।" प्रजापति बोले, 'द'। मनुष्य आत्मनिरीक्षण कर इस परिणाम पर पहुँचा कि प्रजापति का तात्पर्य 'दत्त'– दान करने से है। अब असुरों की बारी आयी। उन्हें भी प्रजापति ने 'द' ही कहा। उन्होंने भी आत्मनिरीक्षण किया और समझ लिया कि 'द' से तात्पर्य 'दयध्वम्' अर्थात् दया करने से है।

प्रजापति बोले, "ठीक है! तुम तीनों ने मेरा अभिप्राय ठीक समझा। आत्म-निरीक्षण कर तुममें से जिसमें जिस गुण की कमी थी, वही गुण उसने ग्रहण कर लिया। मेरे द्वारा 'द' संकेत का तुम लोगों के द्वारा ग्रहण किये गये उपदेश के ही समान तुम चाहो तो प्रकृति से भी संदेश ले सकते हो। उदाहरण के तौर पर यह विद्युत् गरजती है– 'द, द, द' इससे भी तुम दमन, दान और

दया की प्रेरणा ले सकते हो।"

(२) दुर्गुणों का दुष्परिणाम

रावण मरा हुआ युद्धभूमि में पड़ा था। उसके मृत शरीर को देखने लक्ष्मणजी गये और लौटकर आने पर उन्होंने बताया कि रावण के शरीर में छलनी की तरह असंख्यों छिद्र हो रहे हैं। दल के वानरों ने जब लक्ष्मण से पूछा कि इतने छेद क्योंकर हुए, तो लक्ष्मण इतना ही कह सके कि राम के तीरों की वर्षा से ही ऐसा होना संभव हुआ होगा।

तब वे सब प्रभु रामचन्द्रजी के पास गये। राम उनका प्रश्न सुनकर मुस्कराये। उन्होंने कहा, "तीरों ने नहीं, रावण के दुर्गुणों ने उसके शरीर को छेदा है और वह महाबलशाली योद्धा अपने पापों के फलस्वरूप मरा है। हे लक्ष्मण ! न शस्त्र किसी को मारते हैं, न शत्रु ! मनुष्य स्वयं अपने दुर्गुणों से जर्जर होता रहता है और पाप का घड़ा भर जाने पर स्वयं ही नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है।"

(३) भगवान की थाती

एक बार नारदजी जब वैकुण्ठ आये, तो उन्होंने देखा कि महाविष्णु चित्र बनाने में मग्न हैं तथा आसपास शिव, ब्रह्मा, इत्यादि अगणित देवता विष्णु का कृपा-कटाक्ष पाने के लिए लालायित खड़े हैं। किन्तु विष्णु को उनकी ओर देखने का भी अवकाश नहीं। चित्रलीन विष्णु ने नारदजी को भी नहीं देखा। विष्णु का यह

व्यवहार नारद को बड़ा अपमानजनक प्रतीत हुआ। वे आवेश में विष्णु के समीप गये और पास ही खड़ी लक्ष्मी से उन्होंने पूछा, "आज इतनी तन्मयता के साथ भगवान् किसका चित्र बना रहे हैं?" लक्ष्मी ने अपने स्वाभाविक भृकुटि-चांचल्य के साथ कहा, "अपने सबसे बड़े भक्त का– आपसे भी बड़े भक्त का !"

दोहरे अपमानित नारदजी ने पास जाकर देखा, तो आश्चर्य से स्तब्ध हो गये– अचल ध्यानावस्थित विष्णु एक मैले-कुचैले अर्धनग्न मनुष्य का चित्र बना रहे थे। नारदजी का चेहरा क्रोध से तमतमा गया। वे उल्टे पाँव भूलोक की ओर चल पड़े। कई दिनों के भ्रमण के बाद उन्हें एक अत्यन्त घिनौनी जगह पर पशु-चर्मों से घिरा एक चमार दिखायी दिया, जो गंदगी और पसीने से लथपथ चमड़ों के ढेर को साफ कर रहा था। पहली दृष्टि में ही नारदजी ने पहचान लिया कि विष्णु इसी का चित्र बना रहे थे ! दुर्गन्ध के कारण नारदजी उसके पास न जा सके। अदृश्य होकर दूर से ही उसकी दिन-चर्या का निरीक्षण करने लगे।

संध्या होने को आयी, किंतु वह चमार न तो मंदिर में गया और न आँख मूँदकर उसने क्षणभर के लिए हरिस्मरण ही किया। नारदजी के क्रोध की सीमा न रही। एक अधमाधम चमार को श्रेष्ठ बताकर विष्णु ने उनका कितना घोर अपमान किया है ! अँधेरा बढ़ने के साथ-साथ उनके मन की अस्थिरता भी गहरी होने लगी।

आवेशान्ध हो विष्णु को श्राप देने के लिए उन्होंने अपनी तेजस्वी बाहु ऊपर उठायी थी कि लक्ष्मी ने प्रकट होकर उनका हाथ पकड़ लिया और कहा, "देव ! भक्त की उपासना का उपसंहार तो देख लीजिए। फिर जो करना हो, कीजिए।"

उस चमार ने चमड़ों के ढेर को समेटा। सबको एक गठरी में बाँधा। फिर एक मैले कपड़े से सिर से पैर तक शरीर को पोंछा और गठरी के सामने झुककर विनय-विह्वल वाणी में कहने लगा, "प्रभो ! दया करना। कल भी मुझे ऐसी ही सुमति देना कि आज की तरह ही पसीना बहाकर तेरी दी हुई इस चाकरी में सारा दिन गुजार दूँ।"

और नारदजी को विश्वास हो गया कि वह चमार विष्णु को क्यों सर्वाधिक प्रिय है !

(४) भगवद्भजन का प्रयोजन

महाराज युधिष्ठिर ध्यान में मग्न हुए वन में बैठे थे। ध्यान से उठे, तो द्रौपदी ने कहा, "धर्मराज ! इतना भजन आप भगवान् का करते हैं, इतनी देर तक आप ध्यान में बैठे रहते हैं, फिर उनसे क्यों यह नहीं कहते कि इन संकटों को दूर कर दें ? इतने वर्ष से आप और दूसरे पांडव वन में भटक रहे हैं। कितने कष्टपूर्वक आप दिन बिता रहे हैं। कहीं पत्थरों पर रात्रि व्यतीत करनी पड़ती है, कहीं काँटों में ! कभी प्यास बुझाने को पानी नहीं मिलता, कभी भूख मिटाने को अन्न नहीं !

फिर भगवान् कृष्ण से क्यों नहीं कहते कि इन कष्टों का अंत कर दें ?"

युधिष्ठिर बोले, "सुनो द्रौपदी ! मैं भगवान् का भजन सौदे के लिए नहीं किया करता। मैं भजन करता हूँ केवल इसलिए कि भजन करने में आनन्द प्राप्त होता है। सामने फैली हुई उस पर्वतमाला को देखो, उसे देखते ही मन प्रफुल्लित हो जाता है। हम उससे कुछ माँगते नहीं। हम इसलिए देखते हैं कि देखने में प्रसन्नता होती है। इसी प्रसन्नता के लिए मैं भगवान् का भजन करता हूँ।"

(५) स्वेद-कणों का प्रभाव

भगवान् राम जब शबरी से मिलने के लिए गये, तो उन्होने देखा कि वहाँ के सारे फूल खिले हुए हैं; उनमें से एक भी कुम्हलाया नहीं है तथा प्रत्येक से मधुर भीनी-भीनी सुगंध निकल रही है। उन्होंने जिज्ञासावश शबरी से इसका कारण पूछा, तो वह बोली, "भगवन्, इसके पीछे एक घटना है। यहाँ बहुत समय पूर्व मातंग ऋषि का आश्रम था, जहाँ बहुत से ऋषि-मुनि और विद्यार्थी रहा करते थे। एक बार चातुर्मास के समय आश्रम में ईंधन समाप्त-प्राय था। वर्षा प्रारम्भ होने के पूर्व ईंधन लाना जरूरी था। प्रमादवश विद्यार्थी लकड़ी लाने नहीं जा रहे थे। तब एक दिन स्वयं वृद्ध मातंग ऋषि अपने कंधे पर कुल्हाड़ी रखकर लकड़ियाँ काटने चल दिये। गुरु को जाते देख विद्यार्थी भी उनके

पीछे चले। सूखी सूखी लकड़ियाँ काटी गयीं और उन्हें बाँध-बाँधकर वे लोग आश्रम की ओर लौटने लगे। हे राम ! वृद्ध आचार्य के शरीर से श्रमबिन्दु निकलने लगे थे। विद्यार्थी भी पसीने से तर-वतर हो गये थे। तब जहाँ-जहाँ वे श्रमबिन्दु गिरे थे, वहाँ-वहाँ सुन्दर फूल खिल उठे, जो बढ़ते-बढ़ते आज सारे वन में फैल गये है। यह उनका पुण्य प्रभाव ही है कि वे ज्यों के त्यों बने हुए हैं, कुम्हला नहीं रहे हैं।" तात्पर्य यह कि भली प्रकार से किये गये कार्य मधुर सुगंध देते हैं और मिट्टी पर ही खिलते हैं। श्रमजीवी के शरीर से निकलने वाला पसीना ही संसार का पोषण करता है और जीवन जीने की अनुकूल स्थिति पैदा करता है।

(६) धर्म से बचने का बहाना

राजर्षि जनक के आध्यात्मिक उपदेश से सभा-सदगण बड़े प्रभावित हुए। सभी ने धर्म एवं धार्मिक जीवन की भूरि-भूरि प्रशंसा की। इतने में एक सज्जन खड़े होकर बोल उठे, "राजन्, मुझे गृहस्थी ने इस तरह बाँध रखा है कि मैं धर्मकार्य के लिए समय निकाल ही नहीं पाता हूँ।" यह सुनकर सब चुप हो गये।

तभी जनकजी कहने लगे, "सज्जनो ! मैं उठना चाहता हूँ, किन्तु मुझे सिंहासन ने पकड़ रखा है, इससे मैं उठ नहीं पा रहा हूँ।" यह सुन वही सज्जन कहने लगे, "श्रीमान्, यह कैसे संभव हो सकता है कि सिंहासन किसी को पकड़ ले।" जनकजी तुरन्त बोल उठे, "तब

यह भी कैसे सम्भव हो सकता है कि गृहस्थी ने आपको पकड़ रखा है ? गृहस्थी में मोह आपने लगा रखा है और आप बहाना बनाते हैं कि गृहस्थी ने आपको पकड़ रखा है।" अब उन सज्जन का समाधान हो चुका था।

(७) समता

एक मनुष्य संत मेकेरियस के पास आकर विनयपूर्वक बोला, "महाराज, मुझे मुक्ति का मार्ग बतायें।

संत बोले, "कब्रस्तान में जाओ और सारी कबरों को गालियाँ देकर आओ।

उस मनुष्य ने वैसा ही किया। दूसरे दिन संत ने उसे सारी कबरों की स्तुति कर आने के लिए कहा। उस मनुष्य ने इस आज्ञा का भी पालन किया। तब संत ने उस मनुष्य से पूछा, "किसीने तेरी गालियों या स्तुति के जवाब में कुछ कहा ?"

"किसी ने कुछ नहीं कहा, महात्मन् !"

"तू भी मरणशील है, इसलिए सब लोगों के बीच मान-अपमान से अलिप्त रह। यही मुक्तिमार्ग है !" संत बोले।

● तात्यापारा, रायपुर (म. प्र.)

बुरी पुस्तकों का पढ़ना जहर पीने के समान है।

—टाल्सटाय

बायज़ीद बस्तामी

डा. अशोक कुमार बोरदिया

(१)

सन्त फज़ील एक दिन अपने लड़के को गोद में लेकर प्यार कर रहे थे। उस छोटे बच्चे ने पूछा, "अब्बा, क्या आप मुझे प्यार करते हैं?" फज़ील बोले, "हाँ।" बालक ने फिर पूछा, "क्या आप खुदा को प्यार करते हैं?" वे बोले, "हाँ।" "यह कैसे अब्बा, दिल तो आपका एक ही है न?"- बालक की जुबानी खुदा ने ही मानो चेतावनी देते हुए कहा। सच है, जिस दिल में दुनिया का प्यार भरा है, उसमें भगवान् के लिये स्थान कहाँ? प्रायः देखा गया है कि पवित्रात्मा बालक उन महान् सत्यों को सहज ही में समझ जाते हैं, जिन्हें प्रौढ़ व्यक्ति कठिनाई से भी नहीं समझ पाते। यही बात मुस्लिम जगत् के महान् सन्त बायज़ीद बस्तामी के जीवन में भी पायी जाती है। छुटपन में उन्होंने एक आयत पढ़ी-"तू माँ-बाप की और मेरी (खुदा की) इज्ज़त कर।" उनके मन में विचार आया और वे अपनी माता के पास आकर बोले, "मैंने एक आयत पढ़ी जिसमें खुदा कहता है कि मेरा और माँ-बाप का शुक्र करो। शुक्र तो खिदमत (सेवा) से ही हो सकता है। मुझे दो की खिदमत मुश्किल मालूम होती है। इसलिये या तो तू

मुझे खुदा से माँग ले या फिर मुझी को खुदा को सौंप दे ताकि मैं दिलोजान से उसकी खिदमत में लग जाऊँ।"

होनहार सन्त की माता भी विशाल हृदया थीं। वे इस सन्त के जीवन निर्माण में बड़ी सहायक सिद्ध हुईं। उन्होंने अपने कलेजे पर पत्थर रखकर बेटे की इच्छानुसार उसे खुदा को सौंप दिया। वे बायज़ीद की अनुपस्थिति में उसकी खुशहाली एवं आध्यात्मिक उन्नति के लिये प्रार्थना किया करतीं। बायीद ने स्वयं स्वीकार किया है कि ज्ञान-भक्ति जो कुछ उन्हें हासिल हुआ, वह सब माँ की मुहब्बत भरी दिली दुआ का ही फल था।

भगवान् किसी का हक नहीं छीनते। जिसप्रकार माता ने बायजीद को खुदा को सौंप कर पुत्र के प्रति अपने कर्तव्य को निभाया, उसीप्रकार बायजीद ने भी साधना आदि की समाप्ति के बाद लौटकर वृद्धा माता की भरसक सेवा की। एक रात को सोते से जागकर माँ ने पीने को पानी माँगा। बायज़ीद नहर पर सुराही भरने गये। उतके लौटते तक माँ गहरी नींद में सोगई थीं। सर्दी की रात में बायज़ीद सुराही लेकर माँ के सिरहाने खड़े रहे। ठंड से उनके हाथ ठिठुर गये। माँ की नींद खुलने पर उन्होंने उनको पानी पिलाया और जब माँ ने उनसे इस प्रकार इतनी देर तक खड़े रहने का कारण पूछा, तो उन्होंने कहा, "मैंने सोचा कि तुम जागो और पानी तैयार न मिले तो तुम्हें तकलीफ होगी।" इसी

प्रकार एक बार माँ एक किवाड़ खोलने को कहकर सो गईं। दाहिना किवाड़ खोलने को कहा या बायाँ, इसी फिक्र में वे रात भर खड़े रहे। भगवद्भक्ति के द्वारा अपने हृदय को शुद्ध कर लेने के फलस्वरूप वे अपनी माता की सेवा-शुश्रूषा भी अधिक प्रेम और श्रद्धा से कर सके थे।

(२)

नवीं शताब्दी में फारस के बस्ताम नगर में जन्म लेने वाले सूफी सन्त अबुयज़ीद तैफर के जीवन एवं साधना सम्बन्धी तथ्य अन्य सूफियों के समान श्रृंखला-बद्ध रूप से उपलब्ध नहीं हैं। ये ही आगे चलकर बाय-ज़ीद बस्तामी के नाम से प्रसिद्ध हुए। माता से अनुमति पाकर वे जंगलों में जाकर आराधना में लीन हो गये। वहाँ उन्हें बहुत से सन्तों और साधकों के दर्शन हुए। उनके संस्कार अच्छे थे, इसलिए रात दिन मेहनत करके उन्होंने तीन वर्ष में ही बहुत कुछ पा लिया। कहा जाता है कि जब वे इवादत (आराधना) करने बैठते, तो मकान के तमाम सूराख बन्द कर देते ताकि बाहर की आवाज ध्यान में बाधा न डाले। बस्ताम के एक सन्त का कहना है कि तीस साल तक वह उनके साथ रहा पर किसी से उन्हें बात करते न देखा। वे सदा अपना सर घुटनों पर टेके रहते और जब उठाते तो केवल ईश्वर–विरह से व्याकुल हो आहें भरते।

लगभग बारह वर्ष तक बायज़ीद ने शारीरिक

कठोरताओं का अभ्यास किया। साथ ही वे आत्म-विश्लेषण और अपने दुर्गुणों को पहिचानने का भी अभ्यास करते रहे। इन प्रयत्नों से शुद्ध हुए अन्तःकरण पर भाँति-भाँति की साधनाओं का रंग चढ़ाया। तत्पश्चात् जब संसार पर नजर डाली तो तुलनात्मक रूप से सभी को मृतप्राय पाया। एक बार अहंकार ने उन पर आक्रमण किया और वे अपने-आपको जमाने का बहुत बड़ा शेख समझने लगे। किन्तु स्वदोष-दर्शन के अभ्यास के फलस्वरूप वे शीघ्र सँभल गये। खुरासान जाते समय वे तीन दिन तक एक स्थान पर ठहर गये और भगवान् से प्रार्थना की, "जबतक तू मुझे मेरी असली हालत से आगाह [अवगत] नहीं करेगा, तबतक आगे न जाऊँगा।"

चौथे दिन बायज़ीद ने ऊँट पर सवार एक काने आदमी को आते देखा। ऊँट को उन्होंने ठहरने का इशारा किया तो ऊँट के पैर जमीन में धँस गये। इसपर ऊँट पर सवार आदमी ने डाँटकर कहा, "क्या तू चाहता है कि मैं अपनी बन्द आँख खोल दूँ और बस्ताम शहर सहित तुझे डुबा दूँ ? तू अपने दिल पर निगाह कर और सावधान हो जा।" इतना कहकर वह व्यक्ति अन्तर्ध्यान हो गया।

बायज़ीद की खुदनुमाई [अहंकार] को दूर करने में एक बुढ़िया एक कुत्ता भी सहायक हुए। एक बार जंगल में उन्हें एक बुढ़िया आटे का बोझ सर पर रखे हुए मिली। बुढ़िया बायज़ीद से उस बोझ को घर पहुँचा देने

के लिये बोली। इतने में एक शेर दिखाई दिया। बायज़ीद ने बोझ शेर की पीठ पर रख दिया और कहा कि शेर उस बोझे को घर पहुँचा देगा। फिर उन्होंने बुढ़िया से पूछा कि वह घर जाकर क्या कहेगी? बुढ़िया ने चुभता सा उत्तर दिया, "मैं कहूँगी कि आज एक खुदनुमा जालिम [घमंडी और निर्दयी] से भेंट हुई थी। जालिम इसलिये कि शेर को व्यर्थ तकलीफ दी। तू दुनिया को दिखाना चाहता है कि शेर भी तेरे काबू में है, यह खुदनुमाई है और सबसे बड़ा ऐब है।"

संसार की हर वस्तु और हर घटना से कुछ न कुछ शिक्षा प्राप्त की जा सकती है। अन्तर्मुखी प्रवृत्ति वाले आध्यात्मिक साधकों को तो प्रकृति की प्रत्येक वस्तु बोलती सी प्रतीत होती है। एक बार बायज़ीद ने एक कुत्ते को देखकर अपने कपड़ों को समेट लिया ताकि कपड़े उससे छू न जायें। इसपर कुत्ते ने मानो कारण पूछते हुए कहा, "आपने दामन क्यों समेटा? अगर मुझसे छू भी जाता तो धोकर साफ किया जा सकता था। पर यह जो नखवत [वर्णजनित घृणा]आपने दिखाई है उसे तो सात समुद्रों का पानी भी साफ नहीं कर सकता!" संत ने गलती स्वीकार करते हुए कहा, "मुझमें अन्दरूनी और तुममें बाहरी नापाकी[गदगी]है। बेहतर हो कि हम साथ रहें ताकि मैं पवित्र हो सकूँ।" कुत्ते ने तिरस्कार करते हुए कहा, "हमारा आपका साथ संभव नहीं, क्योंकि मैं दूसरे दिन के लिये हड्डी

नहीं रखता लेकिन आप अन्न लाकर जमा करते हैं।" सन्त का अहंकार पूरीतरह चूर हो गया और वे आत्म-ग्लानि से कह उठे, "जब हम कुत्ते के ही लायक नहीं, तब खुदा की खुदाई (ईश्वर का सान्निध्य) कैसे मिलेगी!"

इन घटनाओं के फलस्वरूप बायज़ीद काफी नम्र हो गये। नमाज़ पढ़ने जाते तो प्रायः दरवाजे पर ही खड़े होकर रोया करते। कहते, "जब अपने आप को देखता हूँ तो बेहद नापाक पाता हूँ। डरता हूँ कि मेरे अन्दर जाने से मस्जिद नापाक न हो जाये।" हज को गये तो चन्द कदमों पर नमाज़ पढ़ते हुए बारह साल में मक्का पहुँचे। उनका कहना था कि खुदा के दरबार में पहुँचने की राह विनम्रता और प्रेम भरी प्रार्थना से तय करनी चाहिये। वे कहते, "मेरी सारी उम्र इस ख्वाहिश में ही गुजर गई कि कोई नमाज़ ऐसे प्यार भरे दिल से पढ़ूँ कि कबूल हो जाये। सारी रात नमाज़ पढ़ता इस खयाल से कि अबकी बार की नमाज़ कबूल के काबिल हो। आखिर सुबह कहना पड़ता— "जैसा भी हो उसीमें शुमार कर ले।' "

ऋद्धि-सिद्धियों का अहंकार ईश्वर प्राप्ति हेतु प्रयत्नशील साधक के लिये कितनी बड़ी बाधा है, यह उपर्युक्त दृष्टान्तों से स्पष्ट हो जाता है। हजार वर्षों की साधना के वाद भी मन के प्रति असावधान होना साधक के लिये खतरे से खाली नहीं। जिस प्रकार लोटे को साफ रखने के लिये प्रतिदिन माँजना आवश्यक है, उसी

प्रकार मन को प्रकृतिजन्य संसर्ग-दोषों से बचाये रखने के लिये निरन्तर भक्तिभाव से प्लावित रखना चाहिये। किन्तु अगर लोटा सोने का हो तो ? इसी अभिप्राय का एक रोचक वार्तालाप एक बार सन्त अहमद खिजरविया और बायज़ीद के बीच हुआ। अहमद अपने शागिर्दों (शिष्यों) के साथ प्रायः भ्रमण किया करते थे। बायज़ीद ने उनसे कहा, "कब तक यूँ ही घूमते रहोगे ? जो मुकीम (स्थिर, याने भगवान्) है वह सफर से कैसे मिलेगा ?" अहमद बोले, "यह उसूल (नियम) है कि पानी एक जगह ठहर जाने पर बदरंग और बदबूदार हो जाता है !" बायज़ीद ने उत्तर दिया, "क्यों न दरिया (समुद्र) बन जाओ कि न रंग बदले और न बू पैदा हो।"

(३)

बायज़ीद बस्तामी नवीं शताब्दी के बहुत महान् सूफी सन्त हो गये हैं। उनके समकालीन महान् धर्म-शास्त्री जुनैद के अनुसार– "जिस प्रकार जिब्राईल फरिश्तों में श्रेष्ठ है, उसी प्रकार बायज़ीद हममें (सन्तों में) श्रेष्ठ हैं।" जानकार लोगों का कहना है कि बायजीद की अद्वैत ज्ञान में बहुत गहरी गति थी। "मैं खुद खुदा हूँ, मेरी परस्तिश (पूजा) लोग करते हैं", "सुभानी माआज़म शाफी (मैं महान और पवित्र हूँ)", "मैं वह सागर हूँ जिसके आदि, अन्त और गहराई का पता नहीं", "मेरे इस नक़ाब के (शरीर के) भीतर खुदा के सिवा और कुछ नहीं", "इब्राहीम, मूसा और मुहम्मद मैं हूँ",

इत्यादि उद्‌गार उनके उच्च अद्वैत ज्ञान के द्योतक हैं। वे स्वयं कहते थे, "दो सौ साल तक इल्म हासिल (ज्ञानोपार्जन) करने के बाद लोग जो पायें, वह मुझे शुरुआत में ही मिला।"

इसके अतिरिक्त उन्हें सिद्धियाँ भी प्राप्त थीं और उन्हें विभिन्न दैवी दर्शन होते रहते थे। वे हवा और पानी पर चलने की क्षमता रखते थे; राह में ऐशोआराम करते और नींद निकालते पर साथियों से पहले मंजिल पर पहुँच जाते। ऊँट पर सामान लादते, पर इस तरह कि वह उसकी पीठ से कुछ ऊपर उठा रहे ताकि ऊँट को भार महसूस न हो। पोले रंग के प्रकाश में हरे रंग से लिखे पांच पैगम्बरों के नाम इन्हें प्रायः दिखा करते थे। कहा जाता है कि फरिश्ते इनके पास धर्म तत्त्व सम्बन्धी प्रश्न पूछने आते थे। किन्तु वे स्वयं कहा करते, "मर्द तो वह है जो सिवा खुदा के किसी से दिल न लगाये। पानी और हवा पर चलना तो कुछ नहीं है!"

सबसे अधिक महत्वपूर्ण है बायज़ीद का जीवनदर्शन और उनकी साधना पद्धति। एक परमेश्वर अथवा ब्रह्म की ही सत्ता है तथा इसमें सम्पूर्ण दृश्य जगत् का एवं स्वयं के अस्तित्व का भी विलय कर देना ही जीवन का लक्ष्य है। इस सिद्धात को सूफी दर्शन में 'फना' कहा गया है। बायजीद इसी 'फना' के सिद्धान्त को प्रतिपादित करने वाले प्रथम सन्त थे। इस अत्यधिक कठिन कार्य को करने के लिये वे जो मार्ग बताते हैं उसे दो भागों में

विभक्त किया जा सकता है– एक, प्रारम्भिक सोपान और दूसरा, 'फना' होने की अवस्था।

अध्यात्म का पथ फूलों की सेज नहीं है। वह तलवार की धार पर चलने के समान दुर्गम है। बायज़ीद यह बात खूब समझते थे और यह भी जानते थे कि मनुष्य की भौतिक एवं आसुरी प्रकृति पर विजय पाये बिना ईश्वर की राह पर कदम रखना असंभव है। इसलिये वे संयम, इन्द्रिय-निग्रह, धैर्य, अध्यवसाय और अदम्य इच्छा शक्ति को बहुत महत्व देते थे। इनसे भी अधिक आवश्यक है संसार से पूर्ण उदासीनता और ईश्वर-निर्भरता। इन्द्रिय-दमन की अग्नि में अपने आपको तपाने के बाद बायज़ीद ने एक बार खुदा से जब राह चाही तो हुक्म हुआ, "टूटी हुई बंधनी और फटी हुई पोस्तीन जब तक है तब तक राह न मिलेगी।" वे कहते, "जब भी मुझे दुनिया का खयाल आता, मैं दिल को साफ करता था।" लोग तो खुदा से अपने काम की चीज़ें माँगते, पर बायजीद उससे चित्तशुद्धि ही माँगते थे।

"शाहज़ादा वह है जिसकी अपनी कोई मर्ज़ी नहीं और खुदा की मर्ज़ी ही जिसकी मर्ज़ी बन गई है।" उनका कहना था कि खुदा की मदद के बिना उसकी ओर दिल ले जाना भी संभव नहीं और जब उसकी (खुदा की) रहमत (कृपा) होती है, तब दिल बिना कोशिश के उसकी ओर रुजू (अग्रसर) होता है। अतः साधक को चाहिये कि अपनी इच्छा को छोड़कर भगवान्

पर पूर्ण रूप से निर्भर हो जाय।

इन प्रारम्भिक सोपानों के द्वारा पवित्र हुआ मन बायज़ीद की साधना-पद्धति के दूसरे चरण में प्रविष्ट होने में समर्थ होता है। इस चरण के तीन अंग हैं--अनुभूति (Intuition), प्रेम (Love) और भाव-समाधि (Ecstasy)। ये तीनों अवस्थाएँ अतीन्द्रिय हैं, बुद्धि के परे हैं तथा सच्चे साधक के जीवन में स्वाभाविक रूप से एक के बाद एक इसी क्रम से आती हैं। जितना ही साधक समाधि की ओर अग्रसर होता है, उतना ही उसका द्वैत भाव कम होता जाता है और अन्त में प्रेमी और प्रियतम दोनों एक हो जाते हैं।

यही 'फना' की परिभाषा एवं वहाँ तक पहुँचने का क्रम है। बायज़ीद के अनुसार, इससे भी ऊपर एक अवस्था है जिसे वे 'फना-अल-फना' (विलय का विलय) कहते हैं। इस अवस्था में विलय का आभास मात्र भी नहीं रहता और एक शान्त, अरूप, अवर्णनीय, अव्यक्त अवस्था शेष रह जाती है। बायज़ीद के इस अद्वैत दर्शन एवं शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में बहुत कुछ समानता है। अन्तर केवल इतना है कि सूफी पद्धति भक्ति प्रधान है, जबकि शंकराचार्य की साधना ज्ञान प्रधान है। किन्तु यह तो निश्चित है कि मार्ग भले ही भिन्न हों पर गन्तव्य एक ही है।

अमेरिका में स्वामी विवेकानन्द

प्राध्यापक देवेन्द्र कुमार वर्मा

(गतांक से आगे)

पहली ही वक्तृता ने स्वामीजी का नाम पूरे अमरीका में फैला दिया था। दूसरे दिन के अखवार उनकी प्रशंसा से पूर्ण थे। सभी ने एक मत हो यह स्वीकार किया था कि उनकी ही वक्तृता सवसे अधिक हृदय-स्पर्शी और प्रभावी थी। उनके हृदय के अंतरतम प्रदेश से निःसृत, निर्मल, अकपट और मधुर उद्‌गारों ने श्रोताओं का मन जीत लिया था। इस संक्षिप्त भाषण में उन्होंने न केवल हिन्दू धर्म के मर्म को कुशलता के साथ प्रतिपादित किया था वरन् महासभाके उद्देश्य और आकांक्षा को अत्यन्त वाग्मितापूर्ण, सुस्पष्ट भाषा में मुखर कर दिया था। किन्तु यह सोचना भूल होगी कि स्वामीजी को यह ख्याति मात्र वाग्मिता, बुद्धिमत्ता और उदार दृष्टि के फलस्वरूप प्राप्त हुई थी। वास्तव में, इस सबके अन्तराल में उनकी वह आध्यात्मिक शक्ति थी जिसने श्रोताओं के चेतन मन को एकता के सूत्र में पिरो दिया था। श्रीमती बर्क ने अपने ग्रंथ 'न्यू डिस्कवरी' में ठीक ही लिखा है, "दूसरों की वक्तृता में करतल-ध्वनि के कारण सुस्पष्ट हैं:-- राजनीतिक अथवा सम-धार्मिक सहानुभूति; वक्ता के बारे में पूर्व परिचय; अथवा अवहेलित जाति के प्रति अपने द्वारा किये गये अन्यायों का प्रायश्चित्त। पर स्वामीजी के पक्ष में इनमें से कोई कारण नहीं था। यह भी बात नहीं कि मात्र

शब्दों से प्रभावित हो लोगों ने हर्षध्वनि की हो, क्योंकि पूरे प्रातःकाल और अपराह्न के आधे समय तक वक्ताओं द्वारा विश्वबंधुत्व की गाथा गायी गयी थी। श्रीमती ब्लाजेट ने भी जैसे कहा है कि समस्त श्रोतृमंडली निश्चित रूप से यह नहीं जान पाई कि वह क्यों स्वामीजी के प्रथम शब्द मात्र सुनकर हर्ष ध्वनि कर उठी। यही कहना होगा कि स्वयं स्वामीजी ने तथा उनकी शब्दराशि में निहित ऐसे किसी अनुच्चारित तत्त्व ने उन्हें अनुप्राणित किया था जिससे उनकी वाणी भावुकता मात्र न हो जीवन्त सत्य का रूप प्रतीत हुई थी और जिसने सबके हृदय में निहित एक चिरविस्मृत आत्मिक ऐक्य की स्मृति को फिर से जगा दिया था। वह स्मृति ऐसी थी जिसमें गुप्त किन्तु निश्चित रूप से सभ्यता के रंग को बदलने की तथा सभी धर्मों के बीच वास्तविक समन्वय स्थापित करने की क्षमता थी।"

प्रथम दिवस की वक्तृता के बारे में अमरीका की सुप्रसिद्ध कवियित्री कुमारी हेरियट मनरो ने, जो उस दिन धर्म महासभा में उपस्थित थीं, अपनी आत्मकथा में लिखा है, "वह तो स्वामी विवेकानन्द ही थे जिन्होंने सबको जीत लिया और नगर को अपने वशीभूत कर लिया। कुछ अन्य विदेशी वक्ता भी अच्छा बोले– जैसे यूनान, रूस और आरमेनिया से आये हुए प्रतिनिधि, कलकत्ता के मजूमदार और लंका के धर्मपाल। उनमें से कुछ ने दुभाषियों की भी सहायता ली। पर उस सुन्दर

व्यक्तित्व वाले, गेरुआ वस्त्रधारी संन्यासी ने प्रांजल अंग्रेजी में सर्वोत्कृष्ट वस्तु प्रदान की। उनका व्यक्तित्व प्रचण्ड और आकर्षक है। उनका कंठस्वर कांस्य के घंटे की ध्वनि की भाँति गंभीर और मधुर है। उनके संयत आवेग की प्रखरता तथा पाश्चात्य जगत् के संमुख पहली बार उच्चारित उनकी वाणी का सौन्दर्य इन सबने मिलकर हमें भाव की चरम अनुभूति के आस्वादन का विरल अवसर प्रदान किया है। वह तो मानवीय वक्तृत्व की पराकाष्ठा है!"

दूसरे ही दिन से स्वामीजी को भीषण व्यस्तता का सामना करना पड़ा। प्रायः प्रतिदिन उन्हें धर्ममहासभा में अथवा उसकी विज्ञान शाखा में व्याख्यान देना पड़ा। महासभा के सर्वश्रेष्ठ और सर्वाधिक जनप्रिय वक्ता होने के कारण उन्हें आमंत्रित करने के लिए नगर की संस्थाओं में होड़ सी लग गई। इसके अतिरिक्त, प्रतिनिधियों के सम्मानार्थ आयोजित विभिन्न सम्मेलनों और आयोजनों में भी उन्हें भाषण देने पड़े। इन समस्त वक्तृताओं का पूर्ण विवरण यद्यपि प्राप्त नहीं है, तथापि जो कुछ जानकारी प्राप्त हो सकी है वह इस प्रकार है– ११ सितंबर की प्रथम वक्तृता के पश्चात् १५ सितंबर को अपराह्न में उन्होंने 'संप्रदायों में भ्रातृभाव कैसे हो?' इस विषय पर प्रकाश डाला था। १९ सितंबर को उन्होंने 'हिन्दूधर्म' पर अपना वह विश्वप्रसिद्ध लेख पढ़ा था। २० सितंबर को उन्होंने भारत में ईसाई प्रचारकों

द्वारा किये गये अशोभनीय कार्यकलापों के विषय में मन्तव्य प्रकट किया था। २३ सितंबर को 'बौद्धधर्म के साथ हिन्दू धर्म का सम्बन्ध' विषय पर आलोचना की थी। और २७ सितंबर को महासभा के अंतिम दिवस पर संक्षिप्त विदाई-अभिभाषण दिया था। महासभा के भाषणों के अतिरिक्त स्वामीजी ने उसकी विज्ञान शाखा में संभवतः आठ व्याख्यान दिये थे। उनमें से कुछ के विषय और तिथियाँ इस प्रकार हैं– "शास्त्रनिष्ठ हिन्दू-धर्म और वेदान्त दर्शन"– शुक्रवार २२ सितंबर पूर्वाह्न ७।। बजे। "भारत का वर्तमान धर्मसमूह" –शुक्रवार २२ सितंबर अपराह्न। इसी विषय पर पुनः भाषण –२३ सितबर को। "हिन्दूधर्म का सारांश" –सोमवार २५ सितंबर को। इनके अतिरिक्त और भी कुछ वक्तृताओं और अभ्यर्थनाओं की जानकारी प्राप्त हुई है।

महासभा के प्रथम दिवस के अधिवेशन के बाद शिकागो के प्रतिष्ठित समाज में प्रतिनिधियों का परिचय कराने के लिये श्री बैरोज ने श्री बारलेट के विशाल प्रासाद में एक विराट अभ्यर्थना सम्मेलन का आयोजन किया था जिसमें भोजन के पश्चात् आमोद-प्रमोद के कार्यक्रम आयोजित किये गये थे। दूसरी रात्रि में, आर्ट इन्स्टिटट्यूट के हाल में अध्यक्ष बोनी ने प्रतिनिधियों के सम्मानार्थ एक और बड़े प्रीति सम्मेलन का आयोजन किया जिसमें हजारों व्यक्ति आमंत्रित थे। महासभा के चतुर्थ दिन अर्थात् १४ सितंबर को विश्वमेला की महिला

व्यवस्थापकों की अध्यक्षा श्रीमती पॉटर पामर ने एक्स-पोजिशन के महिला-भवन में प्रतिनिधियों के मनोरंजनार्थ सांस्कृतिक कार्यक्रमों का आयोजन किया था। वहाँ स्वामीजी ने 'भारतीय नारी समाज' के बारे में संक्षिप्त वक्तृता दी थी। उनके पश्चात् विभिन्न देशों की नारियों के बारे में आर्कबिशप जान्ते, धर्मपाल, मजूमदार और पुंग क्वांग यू ने भी भाषण दिये थे। श्रीमती पामर के अनुरोध पर स्वामीजी ने जैक्सन स्ट्रीट पर अवस्थित महिला भवन में पुनः 'भारतीय नारी' पर व्याख्यान दिया था। २५ सितंबर रविवार को प्रातःकाल उन्होंने तृतीय यूनिटेरियन चर्च में 'भगवत् प्रेम' विषय पर चर्चा की थी। इसके अतिरिक्त वे अनेक गणमान्य, धनकुबेरों के गृहों में आमंत्रित हुए थे। उन्होंने बाद में लिखा था, "इस देश के अधिकांश धनाढ्य परिवारों के द्वार मेरे लिए खुल गये हैं।"

स्वाभाविक ही स्वामीजी के व्याख्यानोंमें विशाल जनसमुदाय एकत्रित होता था। समाचार पत्रों के पृष्ठ उनकी प्रशस्ति से भरे रहते। 'दि न्यूयार्क हेराल्ड' ने उनके बारे में लिखा था, "..निश्चित रूप से विवेकानन्द ही धर्ममहासभा के सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति हैं। उनकी वक्तृता सुनकर हमें लगता है कि इस सुशिक्षित जाति के बीच धर्मप्रचारक भेजना कितना मूर्खतापूर्ण कार्य है!"

'न्यूयार्क क्रिटिक' ने लिखा था, "अनेकों की वक्तृताएँ संक्षिप्त और वाक्पटु होते हुए भी, धर्ममहासभा

की मूलनीति और उसकी सीमाओं का वर्णन जितने उत्कृष्ट ढंग से उस संन्यासी ने किया, वैसा और कोई नहीं कर पाया। मैं उनका भाषण पूरा पूरा उद्धृत करता हूँ। परन्तु श्रोताओं पर उसकी हुई प्रतिक्रिया के वारे में मैं केवल इतना ही कह सकता हूँ कि वे दैवी शक्ति सम्पन्न वक्ता हैं। साथ ही उनका शक्तिमान् तेजस्वी मुख तथा उनके गेरुए वस्त्र भी उनकी गंभीर, प्रभावशाली, लालित्यपूर्ण मधुर वाणी की अपेक्षा कम आकर्षक नहीं हैं।.....उन्होंने गिरजे और क्लबों में अनेक बार उपदेश दिया है और अब हम उनके धर्म से परिचित हो गये हैं।...उनकी संस्कृति, उनकी वाक्-पटुता, उनके आकर्षक एवं अद्भुत व्यक्तित्वने हमें हिन्दू सभ्यता का एक नया आलोक दिया है।..उनके सुन्दर तेजस्वी मुखमंडल और उनकी गंभीर सुललित वाणी ने सबको अनायास अपने वश में कर लिया है। ..वे बिना किसी प्रकार के नोट्स की सहायता के अपने भाषण देते हैं और अपने तथ्य तथा निष्कर्ष को आन्तरिकता के साथ अपूर्व ढंग से प्रस्तुत करते हैं। कई बार उनकी स्वतःस्फूर्त प्रेरणा उनके भाषणों को अपूर्व वाक्पटुता से युक्त कर देती है।"

इसी प्रकार संयुक्त राज्य के और अनेक प्रसिद्ध पत्रों ने जिनमें 'रूदरफोर्ड अमरीकन', 'दि प्रेस', 'दि इटीरियर शिकागो' आदि प्रमुख हैं, स्वामीजी की मुक्त-कंठ से प्रशंसा की थी। 'बोस्टन ईवनिंग ट्रांस्क्रिप्ट' के

३० सितंबर १८९३ के अंक में, उसके विशेष संवाद-दाता द्वारा स्वामीजी के साथ किये गये साक्षात्कार का बड़ा सजीव वर्णन मिलता है। संवाददाता ने लिखा है–

"आर्ट पैलेस के प्रवेश-द्वार की बायीं ओर एक कमरा है, जिस पर 'नं. १ बाहर रहिये' अंकित है। यहाँ यदकदा 'धर्मसम्मेलन' में आये हुए प्रतिनिधि आते हैं– या तो परस्पर वार्तालाप के लिए अथवा अध्यक्ष बोनी से बात करने के लिए, जिनका व्यक्तिगत कार्यालय इस हिस्से के एक कोने में है। मुड़नेवाले दरवाजों पर सख्त निगरानी रखी जाती है ताकि सामान्य जनता अन्दर न जा पाये। सामान्यतः लोग काफी दूर खड़े रहते हैं जिससे वे भीतर झाँक भी नहीं सकते। केवल प्रतिनिधि-गण ही उस पवित्र हाते में प्रवेश कर सकते हैं। किंतु 'प्रवेश-पत्र' प्राप्त करना और सम्मानित अतिथियों से थोड़े समय का निकट सान्निध्य प्राप्त कर लेना, जो कि 'हाल ऑफ कोलंबस' में संभव नहीं है, विशेष कठिन बात नहीं है।

"इस प्रतीक्षा कक्ष में सबसे आकर्षक व्यक्ति हैं– ब्राह्मण संन्यासी स्वामी विवेकानन्द। वे लम्बे और सुगठित शरीरवाले हैं तथा हिन्दुस्थानियों का उन्नत व्यवहार उनमें है। दाढ़ी मूँछ विहीन चेहरा, समुचित ढली हुई आकृति, धवल दन्त और सुन्दर ढंग से गढ़े हुए अधर जो साधारणतः मधुर मुस्कान लिये खुले रहते हैं, लोगों पर गजब का आकर्षण डालते हैं। उनके अति

सुदृढ़ सिर पर पीली अथवा लाल रंग की पगड़ी शोभायमान होती है और उनका चोगा (जो इस वस्त्र का वास्तविक नाम नहीं है) कमर बंद से बँधा रहता है और घुटनों के नीचे तक पहुँचता है। वह कभी चमकीले नारंगी रंग का अथवा गहरे लाल रंग का होता है। वे अत्युत्तम अंग्रेजी बोलते हैं और वास्तविक जिज्ञासा से पूछे गये सभी प्रश्नों का उत्तर देते हैं।

"सरल व्यवहार के साथ-साथ जब वे महिलाओं से बात करते हैं, तब उनमें एक व्यक्तिगत आत्मसंयम की झलक दृष्टिगत होती है जो उनके द्वारा अपनाये गये जीवन का परिचायक है। जब उनसे उनके 'आश्रम' के नियमों के बारे में पूछा गया तब उन्होंने बताया, 'मैं जो चाहूँ, कर सकता हूँ, मैं मुक्त हूँ। कभी मैं हिमालय पर्वत पर रहता हूँ और कभो नगरों की सड़कों पर। मुझे नहीं मालूम कि मेरा अगला भोजन कहाँ मिलेगा। मैं अपने पास पैसा कभी नहीं रखता। मैं यहाँ चन्दे के द्वारा आया।" तदन्तर निकट खड़े हुए अपने एक-दो स्वदेशवासियों की ओर देखते हुए उन्होंने कहा, 'मेरा प्रबन्ध ये लोग करेंगे।' और इस प्रकार उन्होंने संकेत किया कि शिकागो में उनके भोजन का व्यय दूसरे लोग वहन कर रहे हैं। यह पूछे जाने पर कि क्या आप अपने देश के संन्यासी की सामान्य पोशाक पहने हुए हैं, उन्होंने कहा, 'यह तो अच्छी पोशाक है। जब मैं स्वदेश में रहता हूँ, तब कपड़ों के कुछ टुकड़े

पहन लेता हूँ और नंगे पाँव चलता हूँ। क्या मैं जाति मानता हूँ ? जाति एक सामाजिक प्रथा है, धर्म का इससे कोई सम्बन्ध नहीं। सभी जातियाँ मुझसे सम्पर्क रख सकती हैं।'

"श्री विवेकानन्द के व्यवहार और सामान्य आकृति से यह बिलकुल स्पष्ट है कि उनका जन्म उच्च वंश में हुआ है– ऐच्छिक निर्धनता और गृहविहीन विचरण के अनेक वर्ष उन्हें एक भद्रपुरुष के जन्मसिद्ध अधिकार से वंचित नहीं कर सके। उनके घर का नाम भी विदित नहीं है,– विवेकानन्द नाम उन्होंने धार्मिक जीवन स्वीकार करने पर रखा और 'स्वामी' तो केवल उनके प्रति श्रद्धास्वरूप दी गयी एक उपाधि है। उनकी उम्र तीस से बहुत अधिक न होगी और वे ऐसे प्रतीत होते हैं, मानो वे इसी जीवन और इसकी सिद्धि के लिए तथा इस जीवन के जो कुछ परे है उसके चिन्तन के लिए बने हों। यह सोचकर कि उनके जीवन में ऐसा मोड़ आने का क्या कारण रहा होगा, अवश्य ही आश्चर्य होता है।

"जब उनके संन्यास-व्रत लेने के कारण सर्वस्व-त्याग पर टिप्पणी की गयी, तो वे सहसा बोल उठे, 'मैं विवाह क्यों करूँ, जब मैं प्रत्येक स्त्री में केवल जगन्माता को ही देखता हूँ ? मैं यह सब त्याग क्यों करता हूँ ?– इसलिए कि मैं सांसारिक बन्धनों और आसक्तियों से मुक्त हो जाऊँ जिससे मेरा पुनर्जन्म न हो। मृत्यु के बाद मैं अपने आपको परमात्मा में मिला देना चाहता

हूँ, परमात्मा के साथ एक हो जाना चाहता हूँ। तब मैं बुद्ध हो जाऊँगा।

"विवेकानन्द का इससे यह आशय नहीं है कि वे बौद्ध हैं। उन पर किसी भी नाम या जाति की छाप नहीं पड़ सकती। वे उच्चतर ब्राह्मणवाद की एक देन हैं और उस हिन्दुत्व के परिणाम हैं जो विशाल, आदर्शवादी और आत्मत्यागी है। वे संन्यासी अथवा पवित्र आत्मा हैं।

"उनके पास कुछ पुस्तिकाएँ हैं, जो उनके गुरुदेव परमहंस रामकृष्ण के सम्बन्ध में हैं। उन्हें वे वितरित करते हैं। उनके गुरु एक हिन्दू भक्त थे, जिन्होंने अपने श्रोताओं और शिष्यों पर ऐसा प्रभाव डाला था कि उनमें से अनेक, उनकी मृत्यु के वाद, संन्यासी हो गये। मज़ूमदार भी इस सन्त को अपना गुरु मानते थे, किन्तु वे ईसा के उपदेशानुसार इसी संसार में पवित्रता लाने के लिये कार्य करते हैं, जिससे हम रहें तो इसी संसार में, पर उसके बनकर नहीं।

"सम्मेलन में विवेकानन्द का भाषण आकाश की भाँति विस्तीर्ण था। उसमें सभी धर्मों की सर्वोत्कृष्ट बातों का समावेश था और सार्वभौम धर्म के सभी गुण उसमें विद्यमान थे; जैसे मानवता के प्रति उदार भाव ईश्वर के प्रेम के लिए सत्कार्य, न कि दंड के भय अथवा लाभ की आशा से। अपने भावों की मोहकता तथा अपनी आकृति की भव्यता के कारण सम्मेलन में

विवेकानन्द अत्याधिक जनप्रिय हैं। उनके मंच पर आने मात्र से हर्षध्वनि होने लगती है। सहस्र सहस्र व्यक्तियों द्वारा प्रदत्त यह विशिष्ट सम्मान वे बालसुलभ सरलता से स्वीकार करते हैं जिसमें अभिमान की तनिक भी झलक नहीं होती। वास्तव में निर्धनता एवं आत्मत्याग से सहसा इस वैभव और उत्कर्ष में पहुँच जाना इस विनम्र युवा ब्राह्मण संन्यासी के लिए अवश्य ही अजीब अनुभव हुआ होगा। जब यह पूछा गया कि क्या वे हिमालय में रहने वाले उन भ्राताओं के बारे में जानते हैं जिनके प्रति थियोसॉफिस्ट इतना दृढ़ विश्वास रखते हैं तो उन्होंने सहज ही उत्तर दिया, 'मेरी उनमें से किसी से भी भेंट नहीं हुई।' इसका आशय यह हो सकता था कि 'ऐसे लोग हो सकते हैं; किन्तु यद्यपि मैं हिमालय से परिचित हूँ, अभी तक उनसे मेरा मिलना नहीं हुआ है।'"

(क्रमशः)

•

अगर कोई मनुष्य गुफा में रहे, वहीं पर उच्च विचार करे और विचार करता हुआ ही मर जाय तो वे विचार कुछ समय पश्चात् गुफा की दीवारें भेद कर बाहर निकलेंगे और सब जगह छा जाएँगे तथा अंत में सारे मानवसमाज को प्रभावित कर देंगे। विचारों में इतनी शक्ति है !

स्वामी विवेकानन्द

जन्म-शताब्दी के अवसर पर

महात्मा गाँधी

प्राध्यापिका (कु०) अजिता चटर्जी

जिस तरह गंगोत्री से लेकर बंगसागर तक भगवती गंगा समान रूप से पवित्र है, फिर भी बीच बीच में कुछ स्थानों में, जैसे ऋषिकेश, हरिद्वार, प्रयाग, काशी आदि में वह विशेष पवित्र मानी जाती है, उसी प्रकार तिथियाँ तो सभी पावन हैं, पर जो तिथि किसी महापुरुष के स्मरण के साथ जुड़ जाती है वह अधिक पावन मानी जाने लगती है। २ अक्तूबर महात्मा गाँधी की जन्मतिथि होने की वजह से भारतीयों के लिये एक पावन तिथि है।

गाँधीजी का जन्म पोरबन्दर के एक सत्यप्रिय, शूर और उदार परिवार में हुआ था। उनके पिता करमचंद गाँधी विश्वासी, सत्यनिष्ठ एवं न्यायप्रिय व्यक्ति थे। परिवार का पर्याप्त प्रभाव बच्चों पर पड़ता ही है। महात्मा गाँधी पर पिता की अपेक्षा उनकी माता पुतली बाई का प्रभाव अधिक पड़ा था। गाँधीजी ने अपनी आत्मकथा में लिखा है, "मेरे मन पर यह छाप है कि माताजी साध्वी स्त्री थीं। वे बड़ी भावुक थीं और पूजापाठ के बिना कभी भोजन न करतीं। मैंने जब से होश सँभाला है, याद नहीं पड़ता कि उन्होंने चातुर्मास्य का व्रत कभी छोड़ा हो।" परवर्ती काल में गाँधीजी के मन में धर्म के प्रति जो प्रबल निष्ठा दिखलाई देती है

वह उनकी माता का ही प्रभाव था।

गाँधीजी का बचपन पोरबंदर में बीता। वे बचपन में बड़े भीरु प्रकृति के थे। उन्होंने स्वयं लिखा है, "मैं बचपन में डरपोक स्वभाव का था। चोर, भूत और साँप का भय मन में हरदम बना रहता था। पाठशाला में मुझे अपने काम से काम रहता। घंटा बजते पहुँच जाता और पाठशाला बंद होते ही भागता। कारण यह था कि मुझे किसी से बातें करना नहीं रुचता था। फिर यह डर भी बना रहता था कि कोई मेरा मजाक न उड़ाये।"

उनके पूर्वजीवन की दुर्बलता और भीरुता की कहानियाँ पढ़ने पर यह प्रश्न अनायास मन में उठता है कि किस शक्ति के द्वारा उन्होंने भय, क्रोध, दुर्बलता आदि पर विजय प्राप्त की थी ? किस प्रकार भीरु प्रकृति के बालक ने परवर्ती काल में अपने को एक महामानव के रूप में परिणत किया था ? सम्भवतः गीता के इस श्लोक ने –

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप॥

उन्हें शक्ति प्रदान की होगी; क्योंकि गाँधीजी ने 'नवजीवन' में लिखा है, "गीता और तुलसीदास की रामायण से जो स्फूर्ति और ओजस्विता मुझे मिलती है, वैसी और किसी ग्रन्थ से नहीं मिलती।"

हमारे मन में गाँधीजी की बाल्यावस्था को पढ़ने

से जो नाना प्रकार के विचार उठते हैं, उनका बहुत कुछ समाधान हमें विलियम जेम्स के The Will नामक लेख को पढ़ने से होता है। उन्होंने एक जगह लिखा है– "He who can make none is but a shadow, he who can make much is a hero"–जिसके पास उद्यम की पूँजी नहीं है वह एक छाया से भिन्न और क्या हो सकता है; जिसकी उद्यमशक्ति असीम है उसे हम वीर की उपाधि देते हैं। मनुष्य का अच्छा या बुरा होना उसकी इच्छा और कर्मशक्ति को ही दर्शाता है। मन में यदि अच्छे विचार आते हैं और उन्हें पूरा करने की शक्ति हममें है, तो संसार की कोई भी शक्ति हमें अच्छे मार्ग से विचलित नहीं कर सकती। सब कुछ मन पर ही आधारित है। जिस तरह लोहे को आग में रखने से मोर्चा नहीं लगता, उसी प्रकार यदि हम अपने मन को अच्छे विचारों से भर दें तो उसमें जड़ता प्रवेश नहीं कर सकती। विलियम जेम्स ने कहा है, "The whole drama is a mental drama. The whole difficulty is a mental difficulty." समस्त नाट्यलीला का रंगमंच यह मनोभूमि है और मन के कारण ही बाधाएँ आती हैं। श्रीरामकृष्णदेव ने भी अपनी सहज शैली में इसी बात को व्यक्त किया है– "मन को लेकर ही सारा खेल है। मन से ही बद्ध और मन से ही मुक्त। मन को जिस रंग में रँगोगे, उसी में रँग जायगा। जैसे रँगरेज का कपड़ा। लाल में रँगो

तो लाल, नीले में नीला, हरे में हरा। मन को यदि कुसंग में रखो तो उसी के अनुरूप बातें निकलती हैं, विचार होते हैं। यदि उसे भक्त के साथ रखो तो ईश्वर-चिन्तन, भगवच्चर्चा यही सब होता है।" तात्पर्य यह है कि इच्छाशक्ति और साधना के द्वारा मनुष्य अपने मन को अच्छा बनाने में समर्थ है।

यद्यपि गाँधीजी ने दुर्बलता में जन्म लिया, तथापि अदम्य इच्छाशक्ति एवं साधना के द्वारा वे महामानव बन गये। दिव्य जीवन की प्राप्ति के लिये उन्होंने अपना प्रत्येक क्षण साधना में व्यतीत किया। धर्म के प्रति उनकी रुचि बाल्यावस्था से ही थी। उनके मन पर श्रवणकुमार एवं सत्यव्रती राजा हरिश्चन्द्र की कहानी का विशेष प्रभाव पड़ा था। उन्होंने अपनी आत्मकथा में एक स्थान पर लिखा भी है कि "मेरे मन में हरिश्चन्द्र और श्रवण आज भी जीवित हैं।" और केवल बाल्यावस्था ही क्यों, अपने जीवन की सभी अवस्थाओं में वे अपने मन को ईश्वरचिन्तन में लगाये रहते थे। उनके लिये सत्य ही ईश्वर था और जिन नियमों पर चलने से तथा जिन आचार-विचारों का पालन करने से व्यक्ति इस परिपूर्ण नित्य सत्य तक पहुँच सकता है, उसी को वे धर्म कहते थे। अतएव सत्य के प्रति उनका अनुराग प्रगाढ़ था। वे कहा करते थे, "हम सूर्य को ज्योतिर्मय कहते हैं पर सत्य तो वास्तव में सूर्य से भी सहस्रगुना अधिक ज्योतिर्मय है।"

गाँधीजी की यह धर्मप्रियता, ईश्वर में विश्वास और ईश्वरप्राप्ति के लिये व्याकुलता देखकर मन में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि उन्होंने फिर अपने को विचित्र कर्मजाल में क्यों फँसाया ? इस प्रश्न का समाधान उनके कथन से ही हो जाता है। उन्होंने एक जगह कहा है, "सार्वभौम और सर्वव्यापी सत्यस्वरूप ईश्वर को प्रत्यक्ष रूप में देखने के लिये सृष्टि के निकृष्ट से निकृष्ट जीव को भी अपना प्रिय एवं आत्मीय बनाना पड़ेगा।" अतः सत्यस्वरूप ईश्वर के साक्षात्कार के लिये उन्होंने अपने को स्वामी विवेकानन्द की ही भाँति नरनारायण की सेवा में नियोजित कर दिया। उन्होंने भी अपना आदर्श "आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च" यही बनाया।

गाँधीजी मानो प्रेम के प्रतीक थे। उनका अस्पृश्यता-निवारण, मादक द्रव्यों का वर्जन और पर्दाप्रथा का उच्छेद आदि कार्य जनसाधारण के प्रति प्रगाढ़ स्नेह को ही प्रदर्शित करता है। वे अपने कार्य अहिंसा के माध्यम से करते थे, इसलिए वे अहिंसा के पुजारी कहलाते हैं।

बापू ने अपने जीवन को भारत के कल्याण के लिये लगा दिया था। भारत का कल्याण तभी सम्भव है जब भारतवासी आध्यात्मिकता का त्याग न करें, क्योंकि धर्म ही इस राष्ट्र की रीढ़ है। जनता में आध्यात्मिकता फूँकने के लिये स्वामी विवेकानन्द की ही भाँति गाँधीजी भी प्रबल सत्यानुराग एवं विपुल प्रेम को लेकर सामने आते हैं। जहाँ एक ओर स्वामीजी ने मेघगम्भीर वाणी

में जनता के कानों में उच्चारित किया था–"दरिद्रदेवो भव, मूर्खदेवो भव"– गरीब, अपढ़, अज्ञानी और दुःखी भारतवासी को ही अपना ईश्वर जानो; स्मरण रखो, इनकी सेवा ही परम धर्म है।" वहीं दूसरी ओर गाँधीजी ने उसी स्वर में जनता को यह मंत्र सिखलाया था– "Lord, give us the ability and willingness to identify ourselves with the masses". हम देखते हैं कि धर्म के क्षेत्र में गाँधीजी के विचार स्वामी विवेकानन्द के विचारों से बहुत अधिक मिलते हैं। रोमाँ रोलाँ ने लिखा है कि गाँधीजी का जन्म स्वामी विवेकानन्द द्वारा प्रज्वलित मशाल को वहन करने हेतु हुआ था।

गाँधीजी की जीवनगाथा पढ़ने से यह स्पष्ट है कि उन्होंने अपने मन को ईश्वर के साथ युक्त कर रखा था। शायद इसीलिये जब अचानक गोड़से की गोली ने उन्हें मृत्यु के सम्मुख ला खड़ा किया तो उनके मुँह से 'हे राम' ही निकला। ये शब्द हमें ईसा के अन्तिम समय की याद दिला देते हैं। क्रूस पर चढ़ाये जाते समय ईसा के मुँह से दया और क्षमा भरी आवाज सुनाई पड़ी थी– "हे पिता! इन्हें क्षमा कर, क्योंकि ये नहीं जानते कि ये क्या कर रहे हैं!" शायद अहिंसा के अवतार गाँधीजी ने भी ईसा की ही भाँति ईश्वर से अपने हत्यारे के लिये क्षमायाचना की होगी।

अन्त में मैं बापू के प्रति अपनी श्रद्धांजलि कवि सुमित्रा-

नन्दन पन्त की कविता के माध्यम से अर्पित करती हूँ :—

"आओ, हम उसको श्रद्धांजलि दें देवोचित,
जीवन सुन्दरता का घट मृत को कर अर्पित;
नव भारत हो बापू का चिर जीवित स्मारक।
बापू की चेतना बने पिक का नव कूजन,
बापू की चेतना वसन्त बखेरे नूतन!"

●

गाँधीजी ने कहा था—

"विश्वास करना एक गुण है। अविश्वास दुर्बलता की जननी है।"

"जिस प्रकार एक रत्ती संखिया से लोटा भर दूध बिगड़ जाता है, उसी प्रकार अस्पृश्यता से हिन्दू धर्म चौपट हो रहा है।"

"अस्पृश्यता हिन्दू जाति पर कलंक है। वह एक ऐसा सर्प है जिसके सहस्र मुख हैं और जिसके प्रत्येक मुख में जहरीले दाँत दिखायी पड़ते हैं। यह इतनी विस्तृत है कि इसकी परिभाषा नहीं की जा सकती। यह इतनी जबरदस्त है कि इसे अपना अस्तित्व कायम रखने के लिए मनु अथवा प्राचीन स्मृतिकारों की आवश्यकता नहीं पड़ती।"

"अहिंसा प्रचण्ड शस्त्र है। उसमें परम पुरुषार्थ है। वह भीरु से दूर भागती है। वह पुरुष की शोभा है, उसका सर्वस्व है। वह शुष्क, नीरस, जड़ पदार्थ नहीं है; वह चेतन है। वह आत्मा का विशेष गुण है।"

अद्वितीय दान

सतोष कुमार झा

प्रजापति ब्रह्मा की सभा में देवेन्द्र सभी देवताओं के साथ उपस्थित हुए। वे सभी भय एवं चिन्ता से पीड़ित थे। प्रजापति ने देवगणों को देखकर भाँप लिया कि ये भयग्रस्त हैं। उन्होंने उन सबको अभयदान देते हुए पूछा, "देवगण ! तुम सब भयातुर क्यों हो ? तुम पर कौन सी विपत्ति आ पड़ी है ? निर्भय होकर मुझसे कहो। मैं तुम्हारी विपत्ति के निराकरण का उपाय सुझाऊँगा।"

प्रजापति की बातों से आश्वस्त हो सुरपति इन्द्र ने निवेदन किया, "भगवन् ! कालकेय नामधारी भयंकर दैत्यों ने वृत्रासुर की अध्यक्षता में एक सुदृढ़ एवं विशाल असुरसेना का संगठन किया है। असुरों की इस संगठित सेना ने देवलोक पर आक्रमण कर दिया है। हमारी सेना की शक्ति क्षीण होती जा रही है तथा शत्रु निरन्तर अग्रसर होता आ रहा है। दैत्यों की उस विशाल सेना के कारण हमारे प्राण भी संकट में हैं। प्रजापते ! दैत्यों का सेनानायक वृत्रासुर अत्यन्त बलवान् और दुर्धर्ष है। उसी की शक्ति के कारण असुरसेना देवलोक पर चढ़ी चली आ रही है। जब तक वृत्रासुर का विनाश नहीं होता तब तक असुरसेना को परास्त करना असम्भव है। आपसे यही प्रार्थना है कि

आप हमें उसके विनाश का उपाय बतलायें।"

प्रजापति कुछ क्षणों तक गम्भीर रहे। फिर उन्होंने देवराज से कहा, "सुरपति ! वृत्रासुर बड़ा भयंकर है। तुम्हारे सामान्य वज्र से उसका विनाश सम्भव नहीं है। उसका विनाश करने के लिए तुम्हें विशेष वज्र का निर्माण कराना होगा। यह विशेष वज्र उस पदार्थ से नहीं बन सकता जिससे अब तक तुम अपना वज्र बनाते रहे हो।"

इन्द्र ने व्यग्र होकर पूछा, "भगवन् ! कृपापूर्वक बताइये कि वह कौन सी वस्तु है जिससे बने वज्र के द्वारा वृत्रासुर का नाश हो सकता है ? हम किसी भी प्रकार उस वस्तु को पाने का उपाय करेंगे।"

ब्रह्मा ने कहा, "देवराज ! महर्षि दधीच महान् तपस्वी ऋषि हैं। उनकी तपस्या के प्रभाव से उनकी अस्थियों में अतुल शक्ति का संचार हुआ है। यदि वे स्वेच्छापूर्वक देह त्यागकर तुम्हें अपनी अस्थियाँ दे दें और तुम उन अस्थियों से वज्र बनवा लो, तो उस अमोघ वज्र के द्वारा वृत्रासुर का नाश अवश्य ही हो जायगा।"

प्रजापति की बात सुनकर देवराज कुछ निराश अवश्य हुए, किन्तु फिर भी देवताओं के साथ उन्होंने महर्षि की सेवा में जाने का निश्चय किया। इन्द्र के नेतृत्व में देवगण महर्षि दधीच के आश्रम में पहुँचे। ऋषि आश्रम के सामने एक वृक्ष के नीचे शिलाखंड पर बैठे आत्म-चिंतन में लीन थे। देवताओं को इन्द्र सहित अपने यहाँ आया देख वे बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने आदर-

पूर्वक देवताओंका स्वागत किया। व्यावहारिक शिष्टाचार के पश्चात् ऋषि ने उन सबके आने का प्रयोजन जानना चाहा।

देवराज इन्द्र ने सविनय निवेदन किया, "महर्षे! असुरपति वृत्रासुर के अत्याचार से देवगण पीड़ित हैं। उसकी विशाल सेना देवलोक को नष्ट किया चाहती है। वृत्रासुर अत्यन्त दुर्धर्ष तथा शक्तिशाली है। उसके विनाश के विना देवलोक की रक्षा सम्भव नहीं है।"

महर्षि ने कहा, "देवराज! आप तो वज्रधारी हैं। अपने वज्र से आपने कितने ही असुरों का संहार किया है। फिर आप भयभीत क्यों हो रहे हैं? वृत्रासुर का भी आप अपने कठिन वज्र से नाश क्यों नहीं कर देते?"

इन्द्र ने निवेदन किया, "महात्मन्! वृत्रासुर की शक्ति प्रचण्ड है। मेरे इस वज्र से उसका विनाश नहीं हो सकता। किन्तु एक ऐसी बहुमूल्य वस्तु है जिसके द्वारा यदि वज्र का निर्माण किया जाय तो उससे अवश्य ही उस असुर का नाश हो सकता है।"

ऋषि ने जिज्ञासा-भरी दृष्टि से इन्द्र की ओर देखा और प्रश्न किया, "देवराज! वह बहुमूल्य वस्तु कौनसी है? क्या मैं उस वस्तु की प्राप्ति में आपकी कुछ सहायता कर सकता हूँ?"

इन्द्र विनयपूर्वक बोले, "भगवन्! वास्तव में आप ही उस अमूल्य वस्तु के स्वामी हैं। आपकी कृपा से ही हमें वह प्राप्त हो सकती है। उसी के द्वारा देवलोक की

रक्षा सम्भव है, अन्यथा देवताओं का विनाश अवश्यम्भावी है।"

महर्षि दधीच ने इन्द्र को प्रोत्साहित करते हुए कहा, "देवराज! आप निस्संकोच होकर कहिये कि वह कौन सी वस्तु है जिससे वृत्रासुर का नाश करनेवाला वज्र बन सकता है, तथा जो मेरे अधिकार में है। मैं सहर्ष वह वस्तु आपको देने के लिए प्रस्तुत हूँ।"

देवराज इन्द्र ने सकुचाते हुए कहा, "महाभाग! प्रजापति ब्रह्मा ने हमें बताया है कि अनुपम तपश्चर्या के कारण आपकी अस्थियों में महान् शक्ति का संचार हुआ है। यदि आप हम सब पर दया कर स्वेच्छा से अपनी देह त्याग दें तथा अपनी पवित्र अस्थियाँ हमें प्रदान कर दें, तो उन पवित्र अस्थियों से बने वज्र के द्वारा वृत्रासुर का नाश अवश्य हो जायेगा और इस प्रकार देवों की प्राणरक्षा हो जायेगी।"

ऋषि ने अत्यन्त शान्त भाव से कहा, "सुरराज! दूसरों की सेवा के लिए जीवन का उत्सर्ग ही तो मुक्ति का दूसरा नाम है। यदि मेरी अस्थियों द्वारा बने वज्र से एक दुष्ट का नाश होकर इतने देवों का कल्याण हो सकता है, तो मेरे लिए इससे अधिक सौभाग्य की बात और क्या हो सकती है। मेरे प्राण त्यागने के पश्चात् आप सहर्ष मेरे शरीर की अस्थियाँ निकाल लें और उनके द्वारा वज्र निर्माण कर अपने अभीष्ट कार्य की सिद्धि कर लें।"

इन्द्र को अपनी अस्थियों का दान कर महर्षि दधीच ने योगबल द्वारा तत्काल अपने प्राणों को त्याग दिया।

ऋषि के प्राण त्यागने के पश्चात् इन्द्र ने उनकी अस्थियाँ समेट लीं। उन अस्थियों से वज्र का निर्माण किया गया। इसी वज्र के द्वारा वृत्रासुर का नाश हुआ और देवताओं की रक्षा हो सकी।

महाभारत की यह रूपक कथा एक महान् सत्य का उद्घाटन है। प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में देवों और असुरों का यह अनिर्णीत संघर्ष सदैव चलता रहता है। हमारे मन की हीन वृत्तियाँ असुर हैं तथा हमारी शुभ एवं सात्त्विक वृत्तियाँ देव हैं। हमारी असद्वृत्तियाँ नाना प्रकार से हमारी सद्वृत्तियों को क्षीण कर उन्हें पराभूत करने का प्रयत्न करती रहती हैं। एक दुर्बलता, एक असद्वृत्ति के प्रति यदि हम तनिक भी असावधान हुए कि अनेक हीन वृत्तियाँ सहसा हमारे मन को मथ डालती हैं। एक हीन वृत्ति को मन में प्रश्रय मिलते ही अनेक हीन वृत्तियाँ स्वतः ही उठकर हमारे मन पर अधिकार कर लेती हैं और हमें नीचे गिरा देती हैं।

पर सद्वृत्तियों के साथ यह नियम घटित नहीं होता। अत्यन्त सावधानीपूर्वक कठोर साधना करके तब कहीं हम जीवन में किसी एक सात्त्विक प्रवृत्ति का विकास कर पाते हैं। किन्तु उस एक सद्वृत्ति के विकास के साथ साथ अन्य सद्वृत्तियाँ स्वतः ही नहीं आ जातीं। उनमें से प्रत्येक को प्राप्त करने के लिए हमें भिन्न-भिन्न

प्रयत्न तथा साधनाएँ करनी पड़ती हैं। तब कहीं वे जीवन में आ पाती हैं। उनके लिए हमें कठिन मूल्य चुकाना पड़ता है।

वृत्र का अर्थ घनीभूत अन्धकार होता है। यह अन्धकार हमारे अज्ञान का ही मूर्त रूप है। असुरों का सेनापति यह वृत्र ही हो सकता है। हमारी हीन असद्वृत्तियाँ अज्ञान का आश्रय पाकर ही प्रबल होती हैं।

बुद्धि इन्द्र है। अज्ञान रूपी वृत्र बुद्धिरूपी इन्द्र पर प्रहार करने का प्रयत्न करता है, क्योंकि बुद्धि के पराभूत होते ही इन्द्रियरूपी देवगण स्वयमेव वृत्र यानी अज्ञान के अधीन हो जाते हैं।

कई वार इन्द्र, देवगणों का पतन देखकर, अपने पराभव का आभास पा लेते हैं और तब अपनी रक्षा और विजय का उपाय पूछने ब्रह्मा के पास जाते हैं। प्रलोभनों के सम्मुख हमारी इन्द्रियाँ पराजित होकर जब भोगलोलुप होने लगती हैं तब व्यक्ति यदि सावधान हो तो बुद्धिरूपी इन्द्र को अपने ऊपर शीघ्र होनेवाले आक्रमण का आभास मिल जाता है। तब वह अपनी रक्षा का उपाय पूछने विवेक रूपी ब्रह्मा के पास जाता है। ब्रह्मा उसे उसके त्राण और विजय का उपाय बताते हैं। यह उपाय सदैव अपने इन्द्रत्व या श्रेष्ठत्व के अभिमान के त्याग पर आधारित होता है। तभी तो इन्द्र अपना श्रेष्ठत्व त्यागकर महर्षि दधीच के पास याचक के रूप में जाकर उनसे अस्थियों का दान माँगते हैं।

तात्पर्य यह कि बुद्धिरूपी इन्द्र को भी अपने प्रखर तर्क रूपी शस्त्र का अभिमान त्याग श्रद्धारूपी दधीच के पास याचक के रूप में जाना पड़ता है। ज्ञान ही इस श्रद्धा-दधीच की अस्थियाँ हैं। श्रद्धा की चरम परिणति या उत्सर्ग ही ज्ञान है। यही दधीच का देहत्याग है। ज्ञान रूपी महावज्र से अज्ञान-वृत्र का नाश होता है।

●

"बुद्ध ने यह मानकर एक घातक भूल की थी कि समस्त विश्व उपनिषदों की ऊंचाई तक उठाया जा सकता है। और स्वार्थ ने सब कुछ विकृत कर डाला। कृष्ण अधिक दूरदर्शी थे क्योंकि वे अधिक राजनीतिज्ञ थे। किन्तु बुद्ध समझौता नहीं चाहते थे। इसके पूर्व दुनिया ने अवतारों को भी समझौते से विनष्ट होते देखा है, मान्यता के अभाव में मृत्यु की यंत्रणा भोगते और लुप्त होते देखा है। एक क्षण के भी समझौते के बल पर बुद्ध अपने जीवनकाल में ही समस्त एशिया में ईश्वर की तरह पूजे जा सकते थे। परन्तु उनका केवल यही उत्तर था: 'बुद्ध की स्थिति एक सिद्धि है, वह एक व्यक्ति नहीं है।' सचमुच, समस्त संसार में वे ही एक ऐसे मनुष्य थे, जो सदैव नितान्त प्रकृतिस्थ रहे। जितने मनुष्यों ने जन्म लिया है, उनमें वे ही अकेले एक प्रबुद्ध मानव थे।"

—स्वामी विवेकानन्द

प्रश्न— क्या स्वप्न अर्थहीन होते हैं अथवा उनका भी कोई विशेष मतलब होता है? कभी-कभी भविष्य में घटनेवाली घटना स्वप्न में आकर दिख जाती है, यह कैसे होता है?

—कु० अमृत कौर, दिल्ली

उत्तर— अवश्य ही स्वप्न एक विज्ञान है, पर अभी तक स्वप्न में दिखनेवाली घटनाओं का निश्चित अर्थ नहीं लगाया जा सका है। कुछ पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों ने, जिनमें फ्रायड का नाम प्रमुख है, स्वप्नों को पढ़ने के प्रयत्न किये हैं और स्वप्न-विज्ञान पर कुछ ग्रन्थ भी लिखे हैं। पर उन्होंने स्वप्न में दिखनेवाली घटनाओं को जिन-जिन बातों का प्रतीक माना है, वह हर समय सच नहीं उतरती।

ऊलजलूल दीखनेवाले सपनों में भी, सम्भव है, कुछ विशेष अर्थ हों पर उनकी जानकारी नहीं हो पायी है। कुछ लोग सपनों को अर्थहीन मानते हैं। पर निश्चयपूर्वक ऐसा कह देना विज्ञान-सम्मत नहीं है। साधारणतया, अवचेतन मन के संस्कार ही सपनों में हमें दिखायी देते हैं, यह कहना बहुत अधिक गलत न होगा। हमारे मन में कुछ ऐसी प्रवृत्तियाँ हैं जिन्हें हम चेतन स्तर पर लाने से रोकते हैं क्योंकि वे अवांछनीय हैं। अतः जब चेतन मन सो जाता है यानी जब उसका अंकुश नहीं रहता, तब स्वप्नावस्था में वे

दबी हुई अवचेतन मन की प्रवृत्तियाँ उभरती हैं। अतः स्वप्न में दिखनेवाली घटनाओं का सम्बन्ध हमारे अवचेतन मन में छिपी अवांछनीय प्रवृत्तियों के साथ लगाया जा सकता है।

इसी प्रकार, जिसके मन में अच्छे ही अच्छे संस्कार हैं, जिसमें शुभ विचार उठते रहते हैं, वह सपने में शुभ प्रतीक देखता है। साधु-महात्माओं का दर्शन, सुन्दर दृश्य, पावन तीर्थ-मन्दिरों का दर्शन—ये सब शुभ संस्कारों के प्रतीक हैं।

यह भी सत्य है कि कभी-कभी भविष्य में होनेवाली घटनाओं का आभास स्वप्न में पहले से हो जाता है। पर इस आभास की वैज्ञानिक प्रक्रिया कैसी है इसे कहना कठिन ही है।

●

प्रश्न– देश की वर्तमान परिस्थिति भयावह है। इससे उबरने का कोई रास्ता सुझा सकते हैं ?

—मधुकर दामले, नागपुर

उत्तर– ऐसे प्रश्नों के उत्तर इस स्तम्भ के अन्तर्गत नहीं आते, तथापि इतना तो कहा ही जा सकता है कि राष्ट्रहित के सामने अन्य किसी भी बात का मूल्य न समझने वाले, कठोरता से शासन करनेवाले व्यक्तियों के हाथ में यदि शासन-सूत्र आ जाय तो इस परिस्थिति में बहुत-कुछ सुधार हो सकता है। मनुष्य में पाशविकता अभी भी कूट-कूटकर भरी है। पशु केवल भय द्वारा ही शासित होता है। आज जीवन के सभी क्षेत्रों में से यह भय उठ गया है, लोग इसीलिए स्वार्थसिद्धि के लिए अन्याय और मनमानी करते हैं, स्व-हित के समक्ष देश-हित को ताक पर रख देते हैं। अतः उबरने का रास्ता है प्रत्येक नागरिक का उत्कट राष्ट्रप्रेम, अपनी मातृभूमि पर अभिमान।

●

आश्रम समाचार

(२ जून १९६८ से ३१ अगस्त १९६८ तक)

साप्ताहिक सत्संग

रविवासरीय गीताप्रवचनमाला का क्रम ग्रीष्मावकाश के उपरान्त ७ जुलाई से प्रारम्भ किया गया और स्वामी आत्मानन्द ने आलोच्य अवधि में ७, १४, २१, २८ जुलाई एवं ४, ११, १८, २५ अगस्त को गीता पर प्रवचन किये। अब तक गीता पर उनके कुल ३६ प्रवचन हो चुके हैं और अभी वे गीता के दूसरे अध्याय के ३१ वें श्लोक पर चर्चा कर रहे हैं। गीता-प्रवचन अधिकाधिक जनप्रिय होते जा रहे हैं और श्रोतागण भारी संख्या मे इन प्रवचनों में उपस्थित रहते हैं। ये प्रवचन संध्या ५॥ बजे होते हैं।

इस सत्र से एक और नियमित सत्संग प्रति गुरुवार को रात्रि ७॥ बजे प्रारम्भ किया गया है। इसके अन्तर्गत श्री सन्तोष कुमार झा "श्रीरामकृष्णवचनामृत" पर, डा० अशोककुमार बोरादिया "पातंजल योगसूत्र" पर और प्राध्यापक देवेन्द्रकुमार वर्मा "हिन्दू धर्म" पर नियमित क्रम से, एक के बाद एक गुरुवार, प्रवचन करते हैं। अब तक इन तीनों वक्ताओं में से प्रत्येक के दो-दो प्रवचन हो चुके हैं।

आश्रम में अन्य कार्यक्रम

२ अगस्त को 'तुलसी जयन्ती' मनायी गयी। सभा की अध्यक्षता स्थानीय संस्कृत महाविद्यालय के प्रभारी प्राचार्य श्री ओझा ने की। इस अवसर पर तुलसी-जीवन की समीक्षा करते हुए राजकुमार कालेज के प्राध्यापक श्री सुधाकर गोलवलकर ने 'मानस' के मूल्य पर सुन्दर प्रकाश डाला। 'भरत चरित्र' का सजीव चित्रण करते हुए विज्ञान महाविद्यालय के प्राध्यापक डा०

गगाप्रसाद गुप्त 'बरसैया' ने श्रोताओं को तृप्त कर दिया।

१५ अगस्त, स्वातंत्र्य दिवस के उपलक्ष में एक परिसंवाद का आयोजन किया गया। परिसंवाद का विषय था– 'स्वतत्रता की परिभाषा'। इसकी अध्यक्षता संभागीय आयुक्त, श्री एम. ए. खान ने की। छः वक्ताओं ने छः विभिन्न क्षेत्रों में स्वतंत्रता की परिभाषा पर विचार प्रस्तुत किये। विज्ञान महाविद्यालय के प्राचार्य डा० राजेश्वर गुरु ने 'शिक्षा' के क्षेत्र पर बोलते हुए शिक्षक-छात्र सम्बन्ध का उल्लेख किया और कहा कि विद्यार्थियों के लिए 'स्वतत्रता' का मतलब 'स्वच्छन्दता' न हो और शिक्षक भी मात्र शिक्षा-उपजावी न हो। 'समाज' के क्षेत्र पर विचार व्यक्त करते हुए रविशंकर विश्वविद्यालय के समाजशास्त्र एवं नृतत्व विभाग के अध्यक्ष डा० टी. बा. नायक ने कहा कि आजादी के इन बीस वर्षों में भी स्वतत्रता का अर्थ नीचे के तबके वालों के लिए स्पष्ट नहीं हो पाया है। स्वतंत्रता का लाभ अपेक्षाकृत ऊपर के वर्गों को ही मिल पाया है। सामाजिक क्षेत्र की इस विषमता का दूर होना ही स्वतंत्रता की सच्ची परिभाषा है।

डा० कन्हैयालाल वर्मा ने 'साहित्य' के क्षेत्र पर चर्चा करते हुए इस बात पर बल दिया कि स्वतंत्र और मुक्त चिन्तन के नाम पर अश्लीलता को प्रश्रय न दिया जाय, अन्यथा समाज की हानि होती है। प्राध्यापक कनककुमार तिवारी ने 'राजनीति' के क्षेत्र पर विचार व्यक्त करते हुए कहा कि आज बीस वर्ष बाद भी हमें स्वतंत्रता की परिभाषा की खोज करनी पड़ रही है यह निश्चय ही भारत का दुर्भाग्य है। प्रो० किशोरचन्द्र शर्मा ने 'अर्थनीति' के क्षेत्र पर बोलते हुए देश की पंचवार्षिक योजनाओं का विवरण प्रस्तुत किया और कहा कि आर्थिक दृष्टि से आत्म-निर्भर होना ही स्वतंत्रता की कसौटी है। अन्त में स्वामी आत्मानन्द ने 'धर्म' के क्षेत्र पर चर्चा करते हुए कहा कि धर्म का

स्वरूप ही नियमन होता है, अतः इस क्षेत्र में स्वतंत्रता की परिभाषा आत्मसंयम का ही पर्याय है। प्रारम्भ में आयुक्त श्री खान ने विषय की सामयिकता पर विचार व्यक्त किया और आश्रम के अधिकारियों को ऐसे आयोजन के लिए बधाई दी।

१६ अगस्त को जन्माष्टमी के उपलक्ष में परिसंवाद था जिसका विषय था— "कृष्ण-चरित्र का भारतीय संस्कृति को योगदान"। स्वामी आत्मानन्द ने इस परिसंवाद की अध्यक्षता की। पाँच विभिन्न क्षेत्रों में इस योगदान पर विचार व्यक्त किये गये। डा० अरुणकुमार सेन ने 'संगीत' के क्षेत्र पर बोलते हुए कहा कि श्रीकृष्ण के चरित्र ने भारत की संगीत-साधना को प्राणवान् और समृद्ध किया है। संगीत के सभी रसों का केन्द्र कृष्ण का चरित्र है। प्राध्यापक लक्ष्मीकांत शर्मा ने 'साहित्य' के क्षेत्र पर चर्चा करते हुए कहा कि भारत के आध्यात्मिक और शृंगारात्मक दोनों प्रकार के साहित्य को कृष्ण-चरित्र से प्रेरणा मिली है। सबसे भक्तिप्रधान ग्रथ भागवत तथा अनुपम ज्ञान-कोश महाभारत एवं गीता कृष्ण-चरित्र की ही देन रहे हैं। श्री कल्याण प्रसाद शर्मा ने 'कला' के क्षेत्र में इस योगदान की चर्चा करते हुए बताया कि सभी प्रकार की भारतीय कलाओं के प्राण कृष्ण हो रहे हैं। चित्र, शिल्प, वास्तु सभी कलाओं में सर्वत्र कृष्ण-चरित्र की ही छाप दिखती है। आचार्य रणवीर सिंह शास्त्री ने 'राजनीति' के क्षेत्र में विचार व्यक्त करते हुए कहा कि कृष्ण ने जिस राजनीति का प्रतिपादन अपने जीवन की क्रियाओं के द्वारा किया है, वह यदि भारतीयों के जीवन में उतर जाय, तो भारत आज राजनीति के क्षेत्र में भी विश्व का गुरु हो सकता है। 'धर्म' के क्षेत्र में बोलते हुए श्री संतोषकुमार झा ने कहा कि प्रवृत्ति और निवृत्ति का समन्वय श्रीकृष्ण की अपूर्व देन है। गीता को ब्रह्मविद्या और योगशास्त्र दोनों का एकत्र रूप देना कृष्ण की ही

प्रतिभा का चमत्कार है।

अन्त में उपसंहार करते हुए स्वामी आत्मानन्द ने अध्यक्ष पद से कहा कि कृष्ण के दो रूपों ने भारतीय जीवन के सभी क्षेत्रों को आलोड़ित और प्रभावित किया है। जहाँ गोपीजन-वल्लभ कृष्ण संगीत, कला और साहित्य के प्रेरक हैं, वहाँ गीता-गायक कृष्ण धर्म और राजनीति के प्राणदाता हैं। भारतीय संस्कृति से कृष्ण-चरित्र को हटा लेने पर भला क्या बचा रहेगा?

स्वामी आत्मानन्द के अन्यत्र कार्यक्रम

२ जून को 'आनन्द निकेतन' संस्था के आमंत्रण पर स्वामीजी नागपुर में थे। वहाँ उन्होंने 'विज्ञान के युग में धर्म का भविष्य' पर युक्तियुक्त और प्रभावी व्याख्यान दिया। ३ जून के अपराह्न में जीवन-बीमा अधिकारियों के प्रशिक्षण केन्द्र में उन्होंने 'मानव जीवन का प्रयोजन' पर सुचिन्तित, विज्ञानसम्मत विचार व्यक्त किये और उसी दिन संध्या पुनः आनन्द निकेतन के तत्त्वावधान में 'गीता प्रतिपादित कर्मयोग' पर चर्चा की।

८ जून को विद्यार्थी परिषद् द्वारा आयोजित वनवासी सेवा प्रकल्प के समापन समारोह में उन्होंने प्रकल्प में भाग लेने वाले विद्यार्थियों को बधाई दी और उनका मार्गदर्शन किया।

२७, २८ और २९ जून को स्वामीजी श्रीमंत राजमाता सिंधिया के आमंत्रण पर ग्वालियर में थे और उनके द्वारा आयोजित सप्तदिवसीय समारोह में उन्होंने कर्मरहस्य और भक्तिरहस्य इन विषयों पर विचार व्यक्त किये। २९ जून की संध्या वहाँ के रामकृष्ण आश्रम में उन्होंने 'मानव-जीवन का प्रयोजन' पर अत्यन्त प्रभावी और विचारोत्तेजक भाषण दिया।

१ अगस्त को रायपुर के देशबन्धु संघ द्वारा आयोजित 'तुलसी-जयन्ती' के उपलक्ष में स्वामीजी 'मानस की धर्मभूमि' पर

बोले। भावप्रवण भाषण देते हुए उन्होंने इस धर्मभूमि का लक्ष्य 'राम की प्राप्ति को बताया। उपाय के रूप में उनका क्रम-निर्देश इस प्रकार का था– राम पर विश्वास (पुरुषार्थ)–विश्वास से राम पर भक्ति – भक्ति से राम का द्रवण यानी रामकृपा – रामकृपा से सत्संग – सत्संग से विवेक – विवेक से मोह-भ्रम का पलायन – राम-चरणों में अनुराग – राममिलन। अपने विचारों की पुष्टि में स्वामीजी ने रामायण की चौपाइयां और दोहे उदधृत किये।

३१ अगस्त को गणेशोत्सव के उपलक्ष में वे जामुल सीमेंट फैक्टरी के अतिथि थे। वहां उन्होंने 'स्वामी विवेकानन्द ओर हमारा राष्ट्र' इस विषय पर सामयिक और सारगर्भित व्याख्यान दिया तथा यह बतलाया कि भारत किस प्रकार स्वामी विवेकानन्द के उपदेशों से आज की परिस्थिति में मार्गदर्शन प्राप्त कर सकता है।

(मुद्रक : नव भारत प्रिन्टर्स, रायपुर)